सुलभ-साहित्य-माला सप्तम पुष्प

शरत्-साहित्य

श्रीकान्त

(तृतीय पर्व)

अनुवादकर्त्ता

धन्यकुमार जैन

हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय, बम्बई

प्रकाशक—
नाथूराम प्रेमी,
हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय,
हीराबाग, बम्बई नं० ४

प्रथम बार

अगस्त, १९३७
मूल्य दस आने

मुद्रक—
रघुनाथ दिपाजी देसाई,
न्यू भारत प्रिंटिंग प्रेस,
६, केळेवाडी गिरगांव बम्बई.

श्रीकान्त

तृतीय पर्व

एक दिन जिस भ्रमण-कहानीके बीचहीमें अकस्मात् यवनिका डालकर बिदा ले चुका था, उसीको फिर किसी दिन अपने ही हाथसे उद्घाटित करनेकी प्रवृत्ति मुझमें नहीं थी। मेरे गाँवके जो बाबा थे वे जब मेरे उस नाटकीय कथनके उत्तरमें सिर्फ जरा-सा मुसकराकर रह गये, और, राजलक्ष्मीके ज़मीनसे लगकर प्रणाम करनेपर, उसके उत्तरमें जिस ढंगसे हड़बड़ाकर, दो कदम पीछे हटकर बोले, "ऐसी बात है क्या? अहा, अच्छा हुआ, अच्छा हुआ,—जीते रहो, खुश रहो!" और यह कहकर जब वे डाक्टरको साथ लेकर बाहर चले गये तब राजलक्ष्मीके चेहरेकी जो तसवीर मैंने देखी वह भूलनेकी चीज़ नहीं, और न मैं भूला ही। मैंने सोचा था कि वह मेरी ही है, बिलकुल मेरी अपनी,—बाहरकी दुनियामें उसका कोई प्रकाश किसी दिन भी प्रकट न होगा; मगर, अब सोचता हूँ कि यह अच्छा ही हुआ जो बहुत दिनोंसे बन्द हुए उस दरवाज़ेको मुझे ही आकर खोलना पड़ा। जिस अज्ञात रहस्यके प्रति बाहरका क्रुद्ध संशय, अन्याय-अविचारका रूप धारण करके उसपर निरन्तर धक्के लगा रहा था, उसके बन्द दरवाजेको अपने ही हाथसे खोलनेका मुझे मौका मिला, यह अच्छा ही हुआ।

बाबा चले गये, राजलक्ष्मी क्षण-भर स्तब्ध-भावसे उनकी तरफ देखती रही, उसके बाद मुँह उठाकर निष्फल हँसी हँसनेकी कोशिश करके बोली, "पैरोंकी धूल लेते समय मैं उन्हें कुछ छू न लेती। मगर, तुम क्यों उस बातको कहने गये उनसे? उसकी तो कोई ज़रूरत न थी! यह तो सिर्फ——वास्तवमें,

यह तो सिर्फ तुमने अपने ही आप अपनोंका अपमान किया। इसकी कोई ज़रूरत न थी। विधवा-विवाहकी पत्नीको ये लोग बाज़ारकी वेश्याकी अपेक्षा ऊँचा आसन नहीं देते, लिहाजा मैं नीचे ही उतरी, किसीको जरा-सा भी ऊपर न उठा सकी,—"

इस बातको राजलक्ष्मी फिर पूरा न कर सकी।

मैं सब-कुछ समझ गया। इस अपमानके सामने बड़ी बड़ी बातोंकी उछल-कूद मचाकर बात बढ़ानेकी प्रवृत्ति न हुई। जैसे चुपचाप पड़ा था, उसी तरह मुँह बन्द किये पड़ा रहा।

राजलक्ष्मी भी बहुत देरतक और कुछ नहीं बोली,— ठीक मानो अपनी चिन्तामें मग्न होकर बैठी रही; उसके बाद सहसा बिलकुल पास ही कहींसे किसीकी बुलाहट सुनकर मानो चौंककर उठ खड़ी हुई। रतनको बुलाकर बोली, "गाड़ी जल्दी तैयार करनेको कह दे, रतन, नहीं तो रातके ग्यारह बजेकी, उसी गाड़ीसे जाना होगा। ऐसा हुआ तो मुश्किल है,—रास्तेमें ठंढ लगेगी।"

दस ही मिनटके अन्दर रतनने मेरा बैग ले जाकर गाड़ीपर रख दिया और मेरे बिस्तर बाँधनेके लिए इशारा करता हुआ वह पास आ खड़ा हुआ! तबसे अभीतक मैंने एक भी बात नहीं की थी और न अब भी कोई प्रश्न किया। कहाँ जाना होगा, क्या करना होगा, कुछ भी बिना पूछे चुपचाप उठकर धीरेसे गाड़ीमें जाकर बैठ गया।

•

कुछ दिन पहले ऐसी ही एक शामको अपने घरमें प्रवेश किया था आज फिर वैसी ही शामको चुपचाप घरसे निकल पड़ा। उस दिन भी किसीने आदरके साथ ग्रहण नहीं किया और आज भी कोई स्नेहके साथ बिदाई देनेको आगे न आया। उस दिन भी, इसी समय, ऐसे ही घर-घरमें शंख बजना शुरू हुआ था और इसी तरह वसु-मल्लिकोंके गोपाल-मन्दिरसे आरतीके घंटा-घड़ियालका शब्द अस्पष्ट होकर हवामें बहा आ रहा था। फिर भी, उस दिनसे आजके दिनका प्रभेद कितना ज़बर्दस्त है, इस बातको सिर्फ आकाशके देवतागण ही देखने लगे।

बंगालके एक नगण्य गाँवके टूटे-फूटे जीर्ण घरके प्रति मेरी ममता कभी न थी,—उससे वंचित होनेको भी मैंने इससे पहले कभी हानिकर नहीं समझा, परन्तु, आज जब अत्यन्त अनादरके साथ गाँव छोड़कर चल दिया, और किसी दिन किसी भी बहानेसे इसमें फिर कभी प्रवेश करनेकी कल्पना तकको जब मनमें स्थान न दे सका, तब यह अस्वास्थ्यकर साधारण गाँव एक साथ सभी

तरफसे मेरी आँखोंके सामने आसाधारण होकर दिखाई देने लगा, और, जिस घरसे अभी तुरन्त ही निर्वासित होकर निकल पड़ा था, उसी अपने पुरखोंके टूटे-फूटे मालिन घरके प्रति मेरे लोभकी सीमा न रही।

राजलक्ष्मी चुपकेसे आकर मेरे सामनेके आसनपर बैठ गई और, शायद गाँवके परिचित राहगीरोंके कुतूहलसे अपनेको पूरी तरह छिपाये रखनेके लिए ही, एक कोनेमें अपना सिर रखकर आँखें मींच कर रह गई।

रेल्वे स्टेशनके लिए जब हम लोग रवाना हुए, तब सूरज कभीका छुप चुका था। गाँवके टेढ़े-मेढ़े रास्तेके दोनों किनारे, अपने आप बढ़े हुए करौंदे, झरबेर और बेंतके जंगलने, संकीर्ण मार्गको और भी संकीर्ण बना दिया था और दोनों तरफ पंक्तिवार खड़े हुए आम-कटहरके पेड़ोंकी शाखाएँ सिरके ऊपर कहीं कहीं ऐसी सघन होकर मिल गई थीं कि शामका अँधेरा और भी दुर्भेद्य हो गया था। उसके भीतरसे गाड़ी जब अत्यन्त सावधानीके साथ बहुत ही धीमी चालसे चलने लगी तब मैं आँखें मींचकर उस निविड़ अन्धकारके भीतरसे न जाने क्या क्या देखने लगा। मालूम हुआ, इसी रास्तेसे जब किसी दिन बाबा मेरी दादीको ब्याह कर लाये थे, तब यही रास्ता बारातियोंके कोलाहल और पैरोंकी आहटसे गूँज उठा होगा; और फिर किसी दिन जब वे स्वर्ग सिधारे, तब इसी रास्तेसे अड़ोसी-पड़ोसी उनकी अरथी नदी तक ले गये होंगे। इसी मार्गसे ही मेरी माने किसी दिन वधू-वेशमें गृह-प्रवेश किया था, और फिर, एक दिन, जब उनके इस जीवनकी समाप्ति हुई तब, धूल-मिट्टीसे भरे इसी संकीर्ण मार्गसे अपनी माको गंगामें विसर्जित करके हम लोग वापस लौटे थे। उस समय यह मार्ग ऐसा निर्जन और दुर्गम नहीं हुआ था। तब तक शायद इसकी हवामें इतना मैलेरिया और तालाबोंमें इतना कीचड़ और ज़हर इकट्ठा नहीं हुआ था। उस समय तक देशमें अन्न था, वस्त्र थे, धर्म था,—तबतक देशका निरानन्द शायद ऐसी भयंकर शून्यतासे आकाश-व्यापी होकर भगवानके द्वारतक नहीं पहुँचा था। दोनों आँखोंमें आँसू भर आये, गाड़ीके पहियेसे थोड़ी-सी धूल लेकर जल्दीसे माथे और मुँहपर लगाकर मैंने मन-ही-मन कहा, 'हे मेरे पितृ-पितामहोंके सुख-दुःख, विपद-सम्पद, और हँसने-रोनेसे भरे हुए धूल-मिट्टीके पथ, मैं तुम्हें बार-बार नमस्कार करता हूँ।' फिर अन्धकारमें जंगलकी ओर देखकर कहा, 'माता जन्मभूमि, तुम्हारी करोड़ों

अकृती सन्तानोंके समान मैंने भी कभी तुम्हें हृदयसे नहीं चाहा,—और नहीं जानता किसी दिन तुम्हारी सेवामें, तुम्हारे काममें, तुम्हारी गोदमें फिर वापस आऊँगा या नहीं। परन्तु आज इस निर्वासनके मार्गमें अँधेरेके भीतर तुम्हारी जो दुःखकी मूर्ति मेरे आँसुओंके भीतरसे अस्पष्ट होकर प्रस्फुटित हो उठी है, उसे मैं इस जीवनमें कभी नहीं भूल सकता।'

आँख खोलकर देखा,—राजलक्ष्मी उसी तरह स्थिर बैठी है। अँधेरे कोनेमें उसका चेहरा नहीं दिखाई दिया पर मैंने अनुभव किया कि आँखें मींचकर वह मानो चिन्तामें मग्न हो रही है। मन-ही-मन कहा, 'रहने दो ऐसे ही। आजसे जब कि मैंने अपनी [illegible] पतवार उसके हाथ सौंप दी है, तो इस अनजान नदीमें कहाँ भँवरें हैं और कहाँ टापू, सो वही खोज निकाले।'

इस जीवनमें अपने मनको मैंने अनेक दिशाओंमें, अनेक अवस्थाओंमें, आजमाकर देखा है। उसके भीतरकी प्रकृतिको मैं पहचानता हूँ। किसी विषयमें 'अत्यन्त'को यह नहीं सह सकता। अत्यन्त सुख, अत्यन्त स्वास्थ्य, अत्यन्त अच्छा रहना, उसे हमेशा पीड़ा देता है। कोई अत्यन्त प्रेम करता है, इस बातको जानते ही जो मन 'भागूँ भागूँ' करने लगता है, उस मनने आज कितने दुःखसे अपने हाथसे पतवार छोड़ दी है, इस बातको इस मनके सृष्टिकर्त्ताके सिवा और कौन जान सकता है?

बाहरके काले आकाशकी ओर एक बार दृष्टि फैलाई,—भीतरकी अदृश्य-प्राय निश्चल प्रतिमाकी ओर भी एक बार दृष्टि डाली; उसके बाद, हाथ जोड़कर फिर मैंने किसे नमस्कार किया, मैं खुद नहीं जानता। परन्तु, मन-ही-मन इतना जरूर कहा कि 'इसके आकर्षणके दुःसह वेगसे मेरा दम घुट रहा है, बहुत बार बहुत मार्गोंसे भागा हूँ, परन्तु फिर भी जब गोरखधन्धेकी तरह सभी मार्गोंने मुझे बार-बार इसीके पास लौटा दिया है, तो अब मैं विद्रोह न करूँगा,—अबकी बार मैंने अपनेको सम्पूर्ण रूपसे इसीके हाथ सौंप दिया। और, अब तक अपने जीवनको अपनी पतवारसे चलाकर ही क्या पाया? उसे कितना सार्थक बनाया? हाँ, आज अगर वह ऐसेके ही हाथ जा पड़ा हो जो स्वयं अपने जीवनको आकण्ठ डूबे हुए दलदलमेंसे खींचकर बाहर निकाल सका हो, तो वह दूसरेके जीवनको हरगिज फिर उसीमें नहीं डुबा सकता।'

खैर, यह सब तो हुआ अपनी तरफसे। परन्तु, दूसरे पक्षका आचरण फिर ठीक पहलेकी भाँति शुरू हुआ। रास्ते-भरमें एक भी बात नहीं हुई। यहाँतक कि स्टेशन पहुँचकर भी किसीने मुझसे कोई प्रश्न करना आवश्यक नहीं समझा। थोड़ी देर बाद ही कलकत्ते जानेवाली गाड़ीकी घंटी बजी लेकिन रतन टिकट खरीदनेका काम छोड़कर मुसाफिरखानेके एक कोनेमें मेरे लिए बिस्तर बिछानेमें लग गया। अतएव, समझ लिया कि नहीं, हमें सबेरेकी गाड़ीसे पश्चिमकी ओर रवाना होना होगा। मगर, उधर पटना जाना होगा या काशी, या और कहीं यह मालूम न होनेपर भी इतना साफ समझमें आ गया कि इस विषयमें मेरा मतामत बिलकुल ही अनावश्यक है।

राजलक्ष्मी दूसरी ओर देखती हुई अन्यमनस्ककी तरह खड़ी थी, रतनने अपना काम पूरा करके उसके पास जाकर पूछा, "माजी, पता लगा है कि जरा आगे जानेसे सभी तरहका अच्छा खाना मिल सकता है।"

राजलक्ष्मीने आँचलकी गाँठ खोलकर कई रुपये उसके हाथमें देते हुए कहा, "अच्छी बात है, ले आ वहींसे। पर दूध जरा देख-भालकर लेना, बासी-वासी न ले आना कहीं।"

रतनने कहा, "माजी, तुम्हारे लिए कुछ—"

"नहीं, मेरे लिए कुछ नहीं चाहिए।"

यह 'नहीं' कैसी है, इस बातको सभी जानते हैं। और शायद सबसे ज़्यादा जानता है रतन खुद। फिर भी उसने दो-चार बार पैर घिसकर धीरेसे कहा, "कलहीसे तो बिलकुल—"

राजलक्ष्मीने उत्तर दिया, "तुझे क्या सुनाई नहीं देता रतन? बहरा हो गया है क्या?"

आगे और कुछ न कहकर रतन चल दिया। कारण, इसके बाद भी बहस कर सकता हो, ऐसा प्रबल पक्ष तो मैंने किसीका भी नहीं देखा। और जरूरत ही क्या थी? राजलक्ष्मी मुँहसे स्वीकार न करे, फिर भी, मैं जानता हूँ कि रेल-गाड़ीमें रेलसे सम्बन्धित किसीके भी हाथकी कोई चीज़ खानेकी ओर उसकी प्रवृत्ति ही नहीं होती। अगर यह कहा जाय कि निरर्थक कठोर उपवास करनेमें इसके जोड़का दूसरा कोई नहीं देखा, तो शायद अत्युक्ति न होगी। मैंने अपनी आँखोंसे देखा है, कितनी बार कितनी चीजें इसके घर आते देखी हैं,

पर उन्हें नौकर-नौकरानियोंने खाया है, गरीब पड़ोसियोंको बाँट दिया है,—सड़-गल जानेपर फेंक दिया गया है, परन्तु जिसके लिए वे सब चीजें आई हैं, उसने मुँहसे भी नहीं लगाया है। पूछनेपर, मजाक करनेपर, हँसकर कह दिया है 'हाँ, मेरे तो बड़ा आचार है! मेरे, और छुआ-छूतका विचार! मैं तो सब कुछ खाती-पीती हूँ।'

'अच्छा, तो मेरी आँखोंके सामने परीक्षा दो?'

'परीक्षा? अभी? अरे बापरे! तब तो फिर जीनेके लाले पड़ जायँगे!' यह कहकर वह न जीनेका कोई कारण न दिखाकर घरके किसी बहुत ही जरूरी कामका बहाना करके अदृश्य हो गई है। मुझे क्रमशः मालूम हुआ कि वह मांस-मछली दूध-घी कुछ नहीं खाती, परन्तु यह न-खाना ही उसके लिए इतना अशोभन और इतनी लज्जाकी बात है कि इसका उल्लेख करते ही मारे शरमके उसे भागनेको राह नहीं मिलती। इसीसे साधारणतः खानेके बारेमें उससे अनुरोध करनेकी मेरी प्रवृत्ति नहीं होती। जब रतन अपना मुरझाया-सा मुँह लेकर चला गया, तब भी मैंने कुछ नहीं कहा। कुछ देर बाद जब वह लोटेमें गरम दूध और दोनेमें मिठाई वगैरह लेकर लौट आया, तब राजलक्ष्मीने मेरे लिए दूध और कुछ खानेको रखकर बाकीका सब रतनके हाथमें दे दिया, तब भी मैंने कुछ न कहा और रतनकी आँखोंकी नीरव प्रार्थनाको स्पष्ट समझ जानेपर भी मैं उसी तरह चुप बना रहा।

अब तो कारण-अकारण और बात-बातमें उसका न खाना ही मेरे लिए अभ्यस्त हो गया है। परन्तु एक दिन ऐसा था जब यह बात न थी। तब हँसी दिल्लगीसे लेकर कठोर कटाक्षतक भी मैंने कम नहीं किये। परन्तु, जितने दिन बीतते गये हैं, मुझे इसके दूसरे पहलूपर भी सोचने-समझनेका काफी अवसर मिला है। रतनके चले जानेपर मुझे वे ही सब बातें फिर याद आने लगीं।

कब, और क्या सोचकर वह इस कृच्छ्र-साधनामें प्रवृत्त हुई थी, मैं नहीं ज़ानता। तबतक मैं इसके जीवनमें नहीं आया था। परन्तु पहले-पहल जब वह ज़रूरतसे ज़्यादा भोजन-सामग्रीके बीचमें बैठकर अपनी इच्छासे दिन पर दिन गुप्त रूपसे चुपचाप अपनेको वंचित करती हुई जा रही थी, तब वह कितना कठिन और कैसा दुःसाध्य कार्य था! कलुष और सब तरहकी मलिनताके केन्द्रसे अपनेको इस तपस्याके मार्गपर अग्रसर करते हुए उसने कितना न चुपचाप सहा होगा!

आज यह बात उसके लिए इतनी सहज और इतनी स्वाभाविक है कि मेरी दृष्टिमें भी उसकी कोई गुरुता, कोई विशेषता नहीं रह गई; इसका मूल्य क्या है, सो भी मैं ठीक तौरसे नहीं जानता, मगर फिर भी कभी कभी मनमें प्रश्न उठा है कि उसकी यह कठोर साधना क्या सबकी सब विफल हुई है,—बिलकुल ही व्यर्थ श्रम हुआ है ? अपनेको वंचित रखनेकी यह जो शिक्षा है, यह जो अभ्यास है, यह जो पाकर त्याग देनेकी शक्ति है, यह अगर इस जीवनमें उसके अलक्ष्यमें न संचित हो पाती तो क्या आज वह ऐसी स्वच्छन्दतासे, ऐसी सरलताके साथ अपनेको सब प्रकारके भोगोंसे छुड़ाकर अलग कर सकती ? कहींसे भी क्या कोई बन्धन उसे खींचता नहीं ? उसने प्रेम किया है। ऐसे कितने ही आदमी प्रेम किया करते हैं, परन्तु सर्व-त्यागके द्वारा उस प्रेमको ऐसा निष्पाप, ऐसा एकान्त, बना लेना क्या संसारमें इतना सुलभ है ?

मुसाफिर खानेमें और कोई आदमी न था, रतन भी शायद आड़में कहीं जगह ढूँढ़कर लेट गया था। देखा, एक टिमटिमाती हुई बत्तीके नीचे राजलक्ष्मी चुपचाप बैठी है। पास जाकर उसके माथेपर हाथ रखते ही उसने चौंककर मुँह उठाया, और पूछा, "तुम सोये नहीं अभी ?"

"नहीं, मगर तुम यहाँ धूल-मिट्टीमें चुपचाप अकेली न बैठो, मेरे बिस्तरपर चलो।" यह कहकर, और विरोध करनेका अवसर बिना दिये ही, मैंने हाथ पकड़कर उसे उठा लिया परन्तु अपने पास बिठा लेने पर फिर कहनेको कोई बात ही ढूँढे नहीं मिली, सिर्फ आहिस्ते-आहिस्ते उसके हाथपर हाथ फेरने लगा। कुछ क्षण इसी तरह बीते। सहसा उसकी आँखोंके कोनोंपर हाथ पड़ते ही अनुभव किया कि मेरा सन्देह बेबुनियाद नहीं है। धीरे धीरे आँसू पोंछकर मैंने ज्यों ही उसे अपने पास खींचनेकी कोशिश की, त्यों ही वह मेरे फैले हुए पैरोंपर औंधी पड़ गई और ज़ोरसे उन्हें दबाये रही,—किसी भी तरह मैं उसे अपने बिलकुल पास न ला सका।

फिर उसी तरह सन्नाटेमें समय बीतने लगा। सहसा मैं बोल उठा, "एक बात तुम्हें अबतक नहीं जताई, लक्ष्मी !"

उसने चुपकेसे कहा, "कौन-सी बात ?"

इतना ही कहनेमें संस्कारवश पहले तो जरा संकोच हुआ, मगर मैं रुका नहीं, बोला, "आजसे अपनेको मैंने बिलकुल तुम्हारे ही हाथ सौंप दिया है, अब उसकी भलाई-बुराईका सारा भार तुम्हींपर है।"

यह कहकर मैंने उसके मुँहकी ओर देखा कि उस टिमटिमाते हुए उजालेमें वह मेरे मुँहकी ओर चुपचाप एकटक देख रही है। उसके बाद जरा हँसकर बोली, "तुम्हें लेकर मैं क्या करूँगी? तुम न तो तबला ही बजा सकते हो और न सारंगी ही बजा सकोगे और—"

मैंने कहा, 'और' क्या? पान-तमाकू हाजिर करना? नहीं, यह काम तो मुझसे हरगिज नहीं हो सकता।"

"लेकिन पहलेके दो काम?"

मैंने कहा, "आशा दो तो शायद कर भी सकूँ।" कहकर मैंने भी जरा हँस दिया।

सहसा राजलक्ष्मी उत्साहसे उठ बैठी और बोली, "मज़ाक नहीं, सचमुच बजा सकते हो?"

मैंने कहा, "आशा करनेमें दोष क्या है?"

राजलक्ष्मीने कहा, "नहीं बजा सकते।" उसके बाद नीरव विस्मयसे कुछ देर तक वह मेरी ओर एकटक देखती रही, फिर धीरे धीरे कहने लगी, "देखो, बीच-बीचमें मुझे भी ऐसा ही मालूम होता है; परन्तु, फिर सोचती हूँ कि जो आदमी निष्ठुरोंकी तरह बन्दूक लेकर सिर्फ जानवरोंको मारते फिरना ही पसन्द करता है, वह इसकी क्या परवा करनेवाला है? इसके भीतरकी इतनी बड़ी वेदनाका अनुभव करना क्या उसके लिए साध्य हो सकता है? बल्कि शिकार करनेके समान चोट पहुँचा सकनेमें ही मानो उसे आनन्द मिलता है। तुम्हारा दिया हुआ बहुत-सा दुःख मैं यही सोचकर सह सकी हूँ।"

अब चुप रहनेकी मेरी पारी आई। उसके लगाये हुए अभियोगके मूलमें युक्तियों द्वारा न्याय-विचार भी चल सकता था, सफाई देनेके लिए नजीरोंकी भी शायद कमी नहीं पड़ती, परन्तु यह सब विडंबना-सी मालूम हुई। उसकी सच्ची अनुभूतिके आगे मुझे मन-ही-मन हार माननी पड़ी। अपनी बातको वह ठीक तरहसे कह भी नहीं सकी परन्तु, संगीतकी जो अन्तरतम मूर्ति सिर्फ व्यथाके भीतरसे ही कदाचित् आत्म-प्रकाश करती है, वह करुणासे अभिनिषिक्त सदा जाग्रत चेतना ही मानो राजलक्ष्मीके इन दो शब्दोंके इंगितमें रूप धारण करके सामने दिखाई दी। और उसके संयमने, उसके त्यागने, उसके हृदयकी शुचिताने फिर एक बार मानो मेरी आँखोंमें उँगली देकर उसीका स्मरण करा दिया।

फिर भी, एक बात उससे कह सकता था। कह सकता था कि मनुष्यकी परस्पर सर्वथा विरुद्ध प्रवृत्तियाँ किस तरह एक साथ-ही पास-ही-पास बैठी रहती हैं, यह एक अचिन्तनीय रहस्य है। नहीं तो मैं अपने हाथसे जीव-हत्या कर सकता हूँ, इतना बड़ा परमाश्चर्य मेरे ही लिए और क्या हो सकता है? जो एक चींटी तककी मृत्युको नहीं सह सकता, खूनसे लथपथ बलिके यूप-काष्टकी सूरत ही कुछ दिनोंके लिए जिसका खाना-पीना-सोना छुड़ा देती है, जिसने मुहल्लेके अनाथ आश्रयहीन कुत्ते-बिल्लियोंके लिए भी बचपनमें कितने ही दिन चुपचाप उपवास किये हैं,—उसका जंगलके पशु-पक्षियोंपर कैसे निशाना ठीक बैठता है, यह तो खुद मेरी ही समझमें नहीं आता। और, ऐसा क्या सिर्फ मैं ही अकेला हूँ? जिस राजलक्ष्मीका अन्तर-बाहर मेरे लिए आज प्रकाशकी तरह स्वच्छ हो गया है, वह भी इतने दिनोंतक साल-पर-साल किस तरह 'प्यारी'का जीवन बिता सकी!

मनमें आनेपर भी मैं यह बात मुँहसे न निकाल सका। सिर्फ उसे बाधा न देनेकी गरजसे ही नहीं, बल्कि सोचा, 'क्या होगा कहनेसे? देव और दानव दोनों कँधे मिलाकर मनुष्यको कहाँ किस जगह लगातार ढोये लिये जा रहे हैं, इसे कौन जानता है? किस तरह भोगी एक ही दिनमें त्यागी होकर निकल पड़ता है,—निर्मम निष्ठुर एक क्षणमें करुणासे विगलित होकर अपनेको निःशेष कर डालता है, इस रहस्यका हमने कितना-सा सन्धान पाया है? किस निभृत कन्दरामें मानवात्माकी गुप्त साधना अकस्मात् एक दिन सिद्धिके रूपमें प्रस्फुटित हो उठती है, उसकी हम क्या खबर रखते हैं?' क्षीण प्रकाशमें राजलक्ष्मीके मुँहकी ओर देखकर उसीको लक्ष्य करके मैंने मन-ही-मन कहा, 'यह अगर सिर्फ मेरी व्यथा पहुँचानेकी शक्तिको ही देख सकी हो,—मेरी व्यथा ग्रहण करनेकी अक्षमताको स्नेहके कारण अबतक क्षमा करती चली आई हो, तो इसमें मेरे रूठनेकी ऐसी कौन-सी बात है?'

राजलक्ष्मीने कहा, "चुप क्यों रह गये?"

मैंने कहा, "फिर भी तो इस निष्ठुरके लिए ही तुमने सब-कुछ त्याग दिया!"

राजलक्ष्मीने कहा, "सब-कुछ क्या त्यागा? अपनेको तो तुमने निःस्वत्व होकर ही आज मुझे दे दिया, उसे तो मैं 'नहीं चाहिए' कहकर त्याग न सकी!"

मैंने कहा, "हाँ, निःस्वत्व होकर ही दिया है। मगर तुम तो अपने आपको देख नहीं सकोगी, इसलिए, वह उल्लेख मैं न करूँगा!"

२

पश्चिमके शहरमें प्रवेश करनेके पहले ही समझमें आ गया कि बंगालके मैलेरियाने मुझे खूब ही मजबूतीके साथ पकड़ा है। पटना स्टेशनसे राजलक्ष्मीके घर-तक मैं लगभग बेहोशीकी हालतमें ही लाया गया। इसके बादके महीनेमें भी मुझे ज्वर, डाक्टर और राजलक्ष्मी लगभग हर वक्त ही घेरे रहे।

जब बुखार छूट गया, तब डाक्टर साहबने घर-मालिकिनको साफ तौरसे समझा दिया कि यद्यपि यह शहर पश्चिम-प्रदेशमें ही शामिल है और स्वास्थ्यप्रद स्थानके रूपमें इसकी प्रसिद्धि है, फिर भी मेरी सलाह है कि रोगीको जल्दी ही स्थानान्तरित करना चाहिए।

फिर बाँधा-बूँधी शुरू हो गई, मगर अबकी बार जरा धूम-धामके साथ। रतनको अकेला पाकर मैंने पूछा, "अबकी बार कहाँ जाना होगा, रतन?"

देखा कि वह इस नवीन यात्राके बिलकुल ही खिलाफ है। उसने खुले दरवाजेकी तरफ निगाह रखते हुए आभास और इशोरसे फुस-फुस करके जो कुछ कहा, उससे मेरा भी जैसे कलेजा-सा बैठ गया। रतनने कहा "वीरभूम जिलेमें एक छोटा-सा गाँव है गंगामाटी। जब इस गाँवका पट्टा लिया गया था, तब मैं सिर्फ एक बार मुख्तार साहब किसनलालके साथ वहाँ गया था। माजी खुद वहाँ कभी नहीं गईं,—यदि कभी जायँगी तो उन्हें भाग आनेकी राह ढूँढ़े न मिलेगी। गाँवमें भले घर हैं ही नहीं समझ लीजिए,—सिर्फ छोटी जातोंसे भरा पड़ा है,—उन्हें न तो छुआ ही जा सकता है और न वे किसी काम आ सकते हैं।"

राजलक्ष्मी क्यों इन सब छोटी जातोंमें जाकर रहना चाहती है, इसका कारण मानो मेरी समझमें कुछ कुछ आ गया। मैंने पूछा, "गंगामाटी है कहाँ?"

रतनने जताया, "साँइथिया या ऐसी ही किसी स्टेशनसे करीब दस-बारह कोस बैलगाड़ीमें जाना पड़ता है। रास्ता जितना कठिन है उतना ही भयंकर। चारों तरफ मैदान ही मैदान है। उसमें न तो कहीं फसल ही होती है और न कहीं एक बूँद पानी है। कँकड़ीली मिट्टी है,—कहीं गेरुआ, और कहीं जली-हुई-सी स्याह काली।" यह कहकर वह जरा रुका, और खास तौरसे मुझे ही लक्ष्य करके फिर कहने लगा, "बाबूजी, आदमी वहाँ किस सुखके लिए रहते हैं, मेरी तो कुछ समझहीमें नहीं आता! और जो ऐसी सोनेकी-सी जगह छोड़कर वहाँ जाते हैं, उनसे और क्या कहूँ!"

भीतर-ही-भीतर एक लम्बी साँस लेकर मैं मौन हो रहा। ऐसी सोनेकी-सी जगह छोड़कर क्यों उस मरुभूमिके बीच निर्बान्धव नीच आदमियोंके देशमें राजलक्ष्मी मुझे लिये जा रही है, सो न तो इससे कहा जा सकता है और न समझाया ही जा सकता है।

आखिर मैंने कहा, "शायद मेरी बीमारीकी वजहसे ही जाना पड़ रहा है, रतन। यहाँ रहनेसे आराम होनेकी कम आशा है, सभी डाक्टर यही डर दिखा रहे हैं।"

रतनने कहा, "लेकिन बीमारी क्या यहाँ और किसीको होती ही नहीं बाबूजी? आराम होनेके लिए क्या उन सबको उस गंगामाटीमें ही जाना पड़ता है?"

मन-ही-मन कहा, मालूम नहीं, उन सबको किस माटीमें जाना पड़ता है। हो सकता है कि उनकी बीमारी सीधी हो, हो सकता है कि उन्हें साधारण मिट्टीमें ही आराम पड़ जाता हो। मगर, हम लोगोंकी व्याधि सीधी भी नहीं है और साधारण भी नहीं; इसके लिए शायद उसी गंगामाटीकी ही सख्त ज़रूरत है।'

रतन कहने लगा, "माजीके खर्चेका हिसाब-किताब भी तो हमारी किसीकी समझमें नहीं आता। वहाँ न तो घर-द्वार ही है, न और कुछ। एक गुमाश्ता है, उसके पास दो हज़ार रुपये भेजे गये हैं एक मिट्टीका मकान बनानेके लिए। देखिए तो सही बाबूजी, ये सब कैसे ऊँटपटाँग काम हैं! नौकर हूँ, सो हम लोग जैसे कोई आदमी ही नहीं हैं!"

उसके क्षोभ और नाराजगीको देखते हुए मैंने कहा, "तुम वहाँ न जाओ तो क्या है रतन। जबरदस्ती तो तुम्हें कोई कहीं ले नहीं जा सकता?"

मेरी बातसे रतनको कोई सान्त्वना नहीं मिली। बोला, "माजी ले जा सकती हैं। क्या जाने क्या जादू-मंत्र जानती हैं वे; अगर कहें कि तुम लोगोंको जमराजके घर जाना होगा, तो इतने आदमियोंमें हममेंसे किसीकी हिम्मत नहीं कि कह दे, 'ना।'" यह कहकर वह मुँह भारी करके चला गया।

बात तो रतन गुस्सेसे ही कह गया था, पर वह मुझे मानो अकस्मात् एक नये तथ्यका संवाद दे गया। सिर्फ मेरी ही नहीं सभीकी यह एक ही दशा है। उस जादू-मंत्रकी बात ही सोचने लगा। मंत्र-तंत्रपर सचमुच ही मेरा विश्वास है

सो बात नहीं, परन्तु घर-भरके लोगोंमें किसीमें भी इतनी-सी शक्ति नहीं कि यमराजके घर जानेकी आशा तककी उपेक्षा कर सके, तो वह आखिर है कौन-सी चीज़ ।

इसके समस्त सम्बन्धोंसे अपनेको विच्छिन्न करनेके लिए मैंने क्या क्या नहीं किया ! लड़-झगड़कर चल दिया हूँ, संन्यासी होकर भी देख लिया,—यहाँ तक कि देश छोड़कर बहुत दूर चला गया हूँ,—जिससे फिर कभी मुलाकात ही न हो;—परन्तु, मेरी समस्त चेष्टाएँ, किसी गोल चीज़पर सीधी लकीर खींचनेके समान, वारंवार केवल व्यर्थ ही हुई हैं । अपनेको हज़ार बार धिक्कारनेपर भी अपनी कमज़ोरीके आगे आखिर मैं पराजित ही हुआ हूँ, और इसी बातका खयाल करके अन्तमें जब मैंने आत्म-समर्पण कर दिया तब रतनने आकर आज मुझे इस बातकी खबर दी,—' राजलक्ष्मी जादू-मंत्र जानती है ! '

बात ठीक है । लेकिन, इसी रतनसे अगर जिरह करके पूछा जाय, तो मालूम होगा कि वह खुद भी इस बातपर विश्वास नहीं करता ।

सहसा देखा कि राजलक्ष्मी एक पत्थरकी प्यालीमें कुछ लिये हुए व्यस्त भावसे इधरहीसे नीचे जा रही है । मैंने बुलाकर कहा, " सुनो तो, सभी कहते हैं कि तुम जादू-मंत्र जानती हो ! "

वह चौंककर खड़ी हो गई और बोली, " क्या जानती हूँ ? "

मैंने कहा, " जादू-मंत्र ! "

राजलक्ष्मीने मुँह बिचकाकर जरा मुसकराते हुए कहा, " हाँ, जानती हूँ । "

यह कहकर वह चली जा रही थी, सहसा मेरे कुरतेको गौरसे देखकर उद्विग्न कंठसे पूछ उठी, " यह क्या, कलका वही बासी कुरता पहने हुए हो क्या ? "

अपनी तरफ देखकर मैंने कहा, "हाँ, वही है। मगर रहने दो, खूब उजला है।"

राजलक्ष्मीने कहा, " उजलेकी बात नहीं, मैं सफाईकी बात कह रही हूँ । " इसके बाद फिर जरा मुसकराकर कहा " तुम बाहरके इस दिखावटी उजले-पनमें ही हमेशा गरक रहे ! इसकी उपेक्षा करनेको मैं नहीं कहती, मगर भीतर पसीनेसे गन्दगी बढ़ जाती है, इस बातपर गौर करना कब सीखोगे ? " इतना कहकर उसने रतनको आवाज़ दी । किसीने कोई जवाब नहीं दिया । कारण, मालिकिनकी इस तरहकी ऊँची-मीठी आवाज़का जवाब देना इस घरका नियम नहीं, बल्कि, चार-छह मिनटके लिए मुँह-छिपा जाना ही नियम है ।

आखिर राजलक्ष्मीने हाथकी चीज़ नीचे रखकर बगलके कमरेमेंसे एक धुला हुआ कुरता लाकर मेरे हाथमें दिया, और कहा, "अपने मंत्री रतनसे कहना, जब तक उसने जादू-मंत्र नहीं सीख लिया है, तब तक इन सब जरूरी कामोंको वह अपने हाथोंसे ही किया करे।" यह कहकर वह प्याली उठाकर नीचे चली गई।

कुरता बदलते वक्त देखा कि उसका भीतरी हिस्सा सचमुच ही गंदा हो गया है। होना ही चाहिए था, और मैंने भी इसके सिवा और कुछ उम्मीद की हो, सो भी नहीं। मगर मेरा मन तो था सोचनेकी तरफ, इसीसे इस अति तुच्छ चोलेके भीतर-बाहरके वैसादृश्यने ही फिर मुझे नई चोट पहुँचाई।

राजलक्ष्मीकी यह शुचिताकी सनक बहुधा हम लोगोंको निरर्थक, दुःखदायक, और यहाँ तक कि 'अत्याचार' भी मालूम हुई है; और अभी एक ही क्षणमें उसका सब-कुछ मनसे धुल-पुछ गया हो, सो भी सत्य नहीं; परन्तु, इस अन्तिम श्लेषमें जिस वस्तुको मैंने आज तक मन लगाकर नहीं देखा था, उसीको देखा। जहाँ इस अद्भुत मानवीके व्यक्त और अव्यक्त जीवनकी धाराएँ दो बिलकुल प्रतिकूल गतियोंमें बहती चली जा रही हैं, आज मेरी निगाह ठीक उसी स्थानपर जाकर पड़ी। एक दिन अत्यन्त आश्चर्यमें डूबकर सोचा था कि बचपनमें राजलक्ष्मीने जिसे प्यार किया था उसीको प्यारीने अपने उन्माद-यौवनकी किसी अतृप्त लालसा-के कीचड़से इस तरह बहुत ही आसानीसे सहस्र-दल-विकिसित कमलकी भाँति पलक मारते ही बाहर निकाल दिया! आज मालूम हुआ कि वह प्यारी नहीं है,—वह राजलक्ष्मी ही है। राजलक्ष्मी और प्यारी इन दो नामोंके भीतर उसके नारी-जीवनका कितना बड़ा इंगित छिपा था, मैंने उसे देखकर भी नहीं देखा, इसीसे कभी कभी संशयमें पड़कर सोचा है कि एकके अन्दर दूसरा आदमी अब तक कैसे जिन्दा था! परन्तु, मनुष्य तो ऐसा ही है! इसीसे तो वह मनुष्य है!

प्यारीका सारा इतिहास मुझे मालूम नहीं, मालूम करनेकी इच्छा भी नहीं और राजलक्ष्मीका ही सारा इतिहास जानता होऊँ, सो भी नहीं, सिर्फ इतना ही जानता हूँ कि इन दोनोंके मर्म और कर्ममें न कभी किसी दिन कोई मेल था और न सामंजस्य ही; हमेशा ही दोनों परस्पर उलटे स्रोतमें बहती गई हैं! इसीसे एककी निभृत सरसीमें जब शुद्ध सुन्दर प्रेमका कमल धीरे धीरे लगातार

दल-पर दल फैलाता गया है, तब दूसरेके दुर्दान्त जीवनका तूफान,—वहाँ व्याघात तो क्या करेगा, उसे प्रवेशका मार्ग तक नहीं मिला ! इसीसे तो उसकी एक पँखुड़ीतक नहीं झड़ी है,—जरा-सी धूल तक उड़कर आज तक उसे स्पर्श नहीं कर सकी है ।

शीत ऋतुकी संध्या जल्दी ही घनी हो आई, मगर मैं वहीं बैठा बैठा सोचता रहा । मन-ही-मन बोला, ' मनुष्य सिर्फ उसकी देह ही तो नहीं है ! प्यारी नहीं रही, वह मर गई । परन्तु, किसी दिन अगर उसने अपनी उस देहपर कुछ स्याही लगा भी ली हो, तो क्या सिर्फ उसीको बड़ा करके देखता रहूँ, और राजलक्ष्मी जो अपने सहस्र-कोटि दुःखोंकी अग्नि-परीक्षा पार करके आज अपनी अकलंक शुभ्रतामें सामने आकर खड़ी हुई है, उसे मुँह फेरकर विदा कर दूँ ? मनुष्यमें जो पशु है, सिर्फ उसीके अन्यायसे, उसीकी भूल-भ्रान्तिसे, मनुष्यका विचार करूँ ? और जिस देवताने समस्त दुःख, सम्पूर्ण व्यथा, समस्त अपमानोंको चुपचाप सहन और वहन करके भी आज सस्मित मुखसे आत्म-प्रकाश किया है, उसे बिठानेके लिए कहीं आसन भी न बिछाऊँ ? यह क्या मनुष्यके प्रति सच्चा न्याय होगा ?' मेरा मन मानो आज अपनी सम्पूर्ण शक्तिसे कहने लगा, ' नहीं नहीं, हरगिज नहीं, यह कदापि नहीं होगा, ऐसा तो हो ही नहीं सकता ।' वह कोई ज़्यादा दिनकी बात नहीं जब अपनेको दुर्बल, श्रान्त और पराजित सोचकर राजलक्ष्मीके हाथ अपनेको सौंप दिया था, किन्तु, उस दिन उस पराभूतके आत्म-त्यागमें एक बड़ी ज़बरदस्त दीनता थी, तब मेरा मन मानो किसी भी तरह उसका अनुमोदन नहीं कर रहा था; परन्तु, आज मेरा वही मन मानो सहसा जोरके साथ इसी बातको बारबार कहने लगा, 'वह दान दान ही नहीं,—वह धोखा है । जिस प्यारीको तुम जानते न थे, उसे जाननेके बाहर ही पड़ी रहने दो; परन्तु, जो राजलक्ष्मी एक दिन तुम्हारी ही थी, आज उसीको तुम सम्पूर्ण चित्तसे ग्रहण करो । और जिनके हाथसे संसारकी सम्पूर्ण सार्थकता निरन्तर झड़ रही है, इसकी भी अन्तिम सार्थकता उन्हींके हाथ सौंपकर निश्चिन्त हो जाओ ।'

नया नौकर बत्ती ला रहा था; उसे विदा करके मैं अँधेरेमें ही बैठा रहा और मन-ही-मन बोला, ' आज राजलक्ष्मीको सारी भलाइयों और सारी बुराइयोंके साथ स्वीकार करता हूँ । इतना ही मैं कर सकता हूँ, सिर्फ इतना ही मेरे

हाथमें है। मगर, इसके अतिरिक्त और भी जिनके हाथमें है, उन्हींको उस अतिरिक्तके बोझेको सौंपता हूँ।' इतना कहकर मैं उसी अन्धकारमें खाटके सिरहाने चुपचाप अपना सिर रखकर पड़ रहा।

पहले दिनकी तरह दूसरे दिन भी यथारीति तैयारियाँ होने लगीं, और उसके बाद तीसरे दिन भी दिन-भर उद्यमकी सीमा न रही। उस दिन दोपहरको एक बड़े भारी सन्दूकमें थाली-लोटे-गिलास कटोरे-कटोरियाँ और दीवट आदि भरे जा रहे थे। मैं अपने कमरेमेंसे ही सब देख रहा था। मौका पाकर मैंने राजलक्ष्मीको इशारेसे अपने पास बुलाकर पूछा, "यह सब हो क्या रहा है? तुम क्या अब वहाँसे वापस नहीं आना चाहतीं, या क्या?"

राजलक्ष्मीने कहा, "वापस कहाँ आऊँगी, सुनूँ भी तो?"

मुझे याद आया, यह मकान उसने बंकूको दान कर दिया है। मैंने कहा, "मगर, मान लो कि वह जगह तुम्हें ज्यादा दिन अच्छी न लगे तो?"

राजलक्ष्मीने जरा मुसकराते हुए कहा, "मेरे लिए मन खराब करनेकी जरूरत नहीं। तुम्हें अच्छा न लगे, तो तुम चले आना, मैं उसमें बाधा न डालूँगी।"

उसके कहनेके ढंगसे मुझे चोट पहुँची, मैं चुप हो रहा। यह मैंने बहुत बार देखा है कि वह मेरे इस ढंगके किसी भी प्रश्नको मानो सरल चित्तसे ग्रहण नहीं कर सकती। मैं किसीको निष्कपट होकर प्यार कर सकता हूँ, या उसके साथ स्थिर होकर रह सकता हूँ, यह बात किसी भी तरह मानो उसके मनमें समाकर एक होना नहीं चाहती। सन्देहके आलोड़नमें अविश्वास एक क्षणमें ही ऐसा उग्र होकर निकल पड़ता है कि उसकी ज्वाला, दोनोंहीके मनमें बहुत देर तक लप-लप लपटें लिया करती है। अविश्वासकी यह आग कब बुझेगी, और कैसे बुझेगी, सोचते-सोचते मुझे इसका कहीं ओर-छोर ही नहीं मिलता। वह भी इसीकी खोजमें निरन्तर घूम रही है। और, गंगामाटी भी इस बातका अन्तिम फैसला कर देगी या नहीं, यह तथ्य जिनके हाथमें है वे आँखोंके ओझल चुप्पी साधे बैठे हैं।

सब तरहकी तैयारियाँ होते होते और भी तीन-चार दिन बीत गये; उसके बाद और भी दो-एक दिन गये शुभ साइतकी प्रतीक्षामें। अन्तमें, एक दिन सबेरे हम लोग अपरिचित गंगामाटीके लिए सचमुच ही घरसे बाहर निकल पड़े। यात्रामें कुछ अच्छा नहीं लगा,—मनमें जरा भी खुशी नहीं थी। और, सबसे बुरी

बीती शायद रतनपर। वह मुँहको अत्यन्त भारी बनाकर गाड़ीके एक कोनेमें चुपचाप बैठा ही रहा, स्टेशनपर स्टेशन गुज़रते गये, पर उसने किसी भी काममें जरा भी सहायता नहीं की। मगर, मैं सोच रहा था बिलकुल ही दूसरी बात। जगह जानी हुई है या अनजानी, अच्छी है या बुरी, स्वास्थ्यकर है या मैलेरियासे भरी, इन बातोंकी तरफ मेरा ध्यान ही न था। मैं सोच रहा था,—यद्यपि अबतक मेरा जीवन निरुपद्रव नहीं बीता, उसमें बहुत-सी गलतियाँ, बहुत-सी भूलें-चूकें, बहुत-सा दुःख-दैन्य रहा है, फिर भी वे सब मेरे अत्यन्त परिचित हैं। इस लम्बे अरसेमें उनसे मेरा मुकाबिला तो हुआ ही है, साथ ही एक तरहका स्नेह-सा पैदा हो गया है। उनके लिए मैं किसीको भी दोष नहीं देता, और अब मुझे भी और कोई दोष देकर अपना समय नष्ट नहीं करता। परन्तु, यह जो क्या जाने कहाँको किस नवीनताकी ओर निश्चित चला जा रहा है, इस निश्चितताने ही मुझे विकल कर दिया है। ‘आज नहीं कल’ कहकर और देर करनेका भी रास्ता नहीं। आर मजा यह कि न तो मैं इसकी भलाईको जानता हूँ और न बुराईको। इसीसे इसकी भलाई-बुराई कुछ भी, किसी भी हालतमें, अब मुझे अच्छी नहीं लगती। गाड़ी ज्यों ज्यों तेजीके साथ गन्तव्य स्थानके निकट पहुँचती जाती है, त्यों त्यों इस अज्ञात रहस्यका बोझ मेरी छातीपर पत्थर-सा भारी होकर मजबूतीसे बैठता जाता है। कितनी कितनी बातें मनमें आने लगीं, उनकी कोई हद नहीं। मालूम हुआ, निकट भविष्यमें ही शायद मुझहीको केन्द्र बनाकर एक भद्दा दल संगठित हो उठेगा, उसे न तो ग्रहण कर सकूँगा और न अलग फेंक सकूँगा। तब क्या होगा, और क्या न होगा, इस बातको सोचनेमें भी मेरा मन मानो जमकर बरफ हो गया।

मुँह उठाकर देखा, तो राजलक्ष्मी चुपचाप बैठी खिड़कीके बाहर देख रही है। सहसा मालूम हुआ कि मैंने कभी किसी दिन इससे प्रेम नहीं किया। फिर भी इसे ही मुझे प्रेम करना पड़ेगा,—कहीं किसी तरफसे भी निकल भागनेका रास्ता नहीं। संसारमें इतनी बड़ी विडम्बना क्या कभी किसीके भाग्यमें घटित हुई है? और मज़ा यह कि एक ही दिन पहले इस दुबिधाकी चक्कीसे अपनी रक्षा करनेके लिए अपनेको सम्पूर्ण रूपसे उसीके हाथ सौंप दिया था। तब मन-ही-मन ज़ोरके साथ कहा था कि तुम्हारी सभी भलाई-बुराइयोंके साथ ही तुम्हें अंगीकार करता हूँ लक्ष्मी! और आज, मेरा मन ऐसा विक्षिप्त और ऐसा विद्रोही हो उठा। इसीसे सोचता हूँ, संसारमें ‘करूँगा’ कहनेमें और सचमुचके करनेमें कितना बड़ा अन्तर है!

३

साँइथिया स्टेशनपर जब गाड़ी पहुँची, तब दिन ढल रहा था। राजलक्ष्मीके गुमाश्ता काशीराम स्वयं स्टेशनपर नहीं आ सके, वे उधरके इन्तज़ाममें लगे हुए हैं। मगर, दो आदमियोंको उन्होंने, चिट्ठी लिखकर, भेज दिया है। उनके रुक्केसे मालूम हुआ कि ईश्वरकी इच्छासे 'अत्र', अर्थात् उनके घरमें, और उनकी गंगामाटीमें, सब तरहसे कुशल है। आज्ञानुसार स्टेशनके बाहर चार बैल-गाड़ियाँ तैयार खड़ी मिलेंगी,—जिनमेंसे दो तो खुलीं हुई हैं और दो छाई हुई। एकपर बहुत-सा सूखा घास और खजूरकी पत्तियोंकी चटाई बिछा दी गई है,—वह स्वयं मालिकिन साहिबाके लिए है। दूसरीमें मामूली थोड़ा-सा घास डाल दिया गया है, पर चटाई नहीं है। वह नौकर-चाकर आदि अनुचरोंके लिए है। खुली हुई दो गाड़ियोंपर असबाब लादा जायगा। और 'यद्यपि स्यात्' स्थानाभाव हो, तो पियादोंको हुक्म देते ही वे बाज़ारसे और भी एक गाड़ी लाकर हाजिर कर देंगे। उन्होंने और भी लिखा है कि भोजनादि सम्पन्न करके संध्यासे पूर्व ही रवाना हो जाना वांछनीय है। अन्यथा मालिकिन साहिबाकी सुनिद्रामें व्याघात हो सकता है। और इस विषयमें विशेष रूपसे लिखा है कि मार्गमें भयादि कुछ भी नहीं है,—आनन्दसे सोती हुई आ सकती हैं।

मालिकिन साहिबा रुक्का पढ़कर कुछ मुसकराई। जिसने उसे दिया उससे भयादिके विषयमें कोई प्रश्न न करके उन्होंने पूछा, "क्यों भई, आसपासमें कोई तलाब–अलाब बता सकते हो? एक डुबकी लगा आती।"

"है क्यों नहीं, माजी। वह रहा वहाँ—"

"तो चलो तो भइया दिखा दो," कहती हुई वह उस आदमीको और रतनको साथ लेकर न जाने कहाँकी एक अनजान तलैयामें स्नान-भजन करने चली गई। बीमारी आदिका भय दिखाना निरर्थक समझकर मैंने प्रतिवाद भी नहीं किया। खासकर इसलिए कि अगर वह कुछ खा-पी भी लेती, तो इससे वह भी आजके लिए बन्द हो जायगा।

लेकिन, आज वह दसेक मिनटमें ही लौट आई। बैलगाड़ीपर असबाब लद रहा है, और मामूली-सा एक बिस्तर खोलकर सवारी-वाली गाड़ीमें बिछा दिया

गया है। मुझसे उसने कहा, "तुम क्यों नहीं इसी वक्त कुछ खा-पी लेते ? सभी कुछ तो आ गया है।"

मैंने कहा, "दो।"

पेड़के नीचे आसन बिछाकर एक केलेके पत्तेपर मेरे लिए वह खाना परो[illegible] रही थी, और मैं निस्पृह दृष्टिसे सिर्फ उसकी ओर देख रहा था। इतनेमें ए[illegible] मूर्तिने आकर और सामने खड़े होकर कहा, "नारायण!"

राजलक्ष्मीने अपने भीगे बालोंपर बायें हाथसे धोतीका पल्ला खींचते हुए मुँह उठाकर ऊपर देखा और कहा, "आइए।"

अकस्मात् यह निःसंकोच निमन्त्रणका शब्द सुनकर मुँह उठाकर देखा, तो, एक साधु खड़ा है। बहुत ही आश्चर्य हुआ। उसकी उमर ज्यादा नहीं थी,—शायद बीस बाईसके भीतर ही होगी, मगर देखनेमें जैसा सुकुमार वैसा ही सुन्दर। चेहरा कृशताकी ओर ही जा रहा है,—शायद, कुछ लम्बा होनेके कारण ही ऐसा मालूम हुआ, मगर रंग तपे-सोने जैसा। आँखें, भौंहें, चेहरा और ललाटकी बनावट निर्दोष। वास्तवमें, पुरुषका इतना रूप मैंने कभी देखा हो, ऐसा नहीं मालूम हुआ। उसका गेरुआ परिधान-वस्त्र जगह जगह फटा हुआ है,—गाँठें बँधी हुई हैं। बदनपर गेरुआ ढीला कुरता है, उसकी भी यही दशा है; पैरोंमें पंजाबी जूता है, उसकी हालत भी वैसी ही है। खो जानेसे उसके लिए अफसोस करनेकी ज़रूरत नहीं। राजलक्ष्मीने ज़मीनसे सिर टेककर प्रणाम करके आसन बिछा दिया। फिर मुँह उठाकर कहा "मैं जबतक भोजन परोसनेकी तैयारी करूँ, तबतक आपको मुँह-हाथ धोनेके लिए जल दिया जाय ?"

साधुने कहा, "हाँ हाँ, लेकिन आपके पास मैं दूसरे ही कामके लिए आया था।"

राजलक्ष्मीने कहा, "अच्छी बात है, आप भोजन करने तो बैठिए, और बातें पीछे होंगीं। घर लौटनेके लिए टिकट ही चाहिए ? सो मैं खरीद दूँगी।" इतना कहकर उसने मुँह फेरकर अपनी हँसी छिपा ली।

साधुजीने गम्भीरताके साथ जवाब दिया, "नहीं, उसकी ज़रूरत नहीं। मुझे खबर मिली है कि आप लोग गंगामाटी जा रहे हैं। मेरे साथ एक भारी बॉक्स है, उसे अगर आप अपनी गाड़ीमें ले चलें तो अच्छा हो। मैं भी उसी तरफ जा रहा हूँ।"

राजलक्ष्मीने कहा, "इसमें कौन-सी बड़ी बात है; मगर आप ख़ुद ?"

"मैं पैदल ही जा सकता हूँ। ज़्यादा दूर नहीं, छै-सात कोस ही तो होगा।"

राजलक्ष्मीने और कुछ न कह कर, रतनको बुलाके जल देनेके लिए कहा, और खुद ढंगके साथ अच्छी तरह साधुजीके लिए भोजन परोसनेमें लग गई। यह राजलक्ष्मीकी खास अपनी चीज़ है, इस काममें उसका सानी मिलना मुश्किल है।

साधु महाराज खाने बैठे, मैं भी बैठ गया। राजलक्ष्मी मिठाईके बरतन लिये पास ही बैठी रही। दो ही मिनट बाद राजलक्ष्मीने धीरेसे पूछा, "साधुजी, आपका नाम ?"

साधुने खाते खाते कहा, "वज्रानन्द !"

राजलक्ष्मीने कहा, "बाप रे बाप ! और पुकारनेका नाम ?"

उसके कहनेके ढंगसे मैंने उसकी तरफ़ देखा तो उसका सारा चेहरा दबी हुई मुसकराहटसे चमक उठा था। मगर वह हँसी नहीं, मैंने भी भोजन करनेमें मन लगाया। साधुजीने कहा, "उस नामके साथ तो अब कोई सम्बन्ध नहीं रहा। न अपना रहा और न दूसरोंका।"

राजलक्ष्मीने सहज ही हाँमें हाँ मिलाते हुए कहा, "हाँ, सो तो ठीक है।" परन्तु क्षण-भर बाद वह फिर पूछ बैठी, "अच्छा साधुजी, आपको घरसे भागे कितने दिन हुए ?"

प्रश्न बहुत ही अभद्र था। मैंने निगाह उठाकर देखा, राजलक्ष्मीके चेहरेपर हँसी तो नहीं है, पर जिस प्यारीके चेहरेको मैं भूल गया था, इस समय राजलक्ष्मीकी तरफ़ देखकर निमेष-मात्रमें वही चेहरा मुझे याद आ गया। उन पुराने दिनोंकी सारी सरसता उसकी आँखों, मुँह और कंठ-स्वरमें मानो सजीव होकर लौट आई है।

साधुने एक कौर नीचे उतारकर कहा, "आपका यह कुतूहल बिलकुल ही अनावश्यक है।"

राजलक्ष्मी जरा भी क्षुण्ण नहीं हुई, भले-मानसोंकी तरह सिर हिलाकर बोली, "सो तो सच है। लेकिन, एक बार मुझे बहुत भुगतना पड़ा था, इसीसे,—" कहते हुए उसने मेरी ओर लक्ष्य करके कहा, "हाँ जी, तुम अपना वह ऊँट और टट्टूका किस्सा तो सुनाना ! साधुजीको ज़रा सुना तो दो,—अरे रे, भगवान भरोसा ! घरमें शायद कोई याद कर रहा है।"

साधुजीके गलेमें, शायद हँसी रोकतेमें ही, फँदा लग गया। अब तक मेरे साथ उनकी एक भी बात नहीं हुई थी, मालिकिन महोदयाकी ओटमें मैं कुछ कुछ अनुचर-सा ही बना बैठा था। अब साधुजीने फँदेको सम्हालते हुए यथासाध्य गम्भीरताके साथ मुझसे पूछा, "तो आप भी शायद एक बार संन्यासी—"

मेरे मुँहमें पूड़ी थी,—ज्यादा बात करनेकी गुंजाइश न थी, इसलिए दाहिने हाथकी चार उँगलियाँ उठाकर गरदन हिलाते हुए मैंने कहा, "ऊँ हूँ—एक बार नहीं, एक बार नहीं—"

अब तो साधुजीकी गम्भीरता न टिक सकी, वे और राजलक्ष्मी दोनों खिल-खिलाकर हँस पड़े। हँसी थमनेपर साधुजीने कहा, "लौट क्यों आये?"

पूड़ीका कौर मैं अब तक लील न सका था, सिर्फ इशारेसे राजलक्ष्मीको दिखा दिया।

राजलक्ष्मीने मुझे डाँट-सा दिया, कहा "हाँ, सो तो ठीक है! अच्छा, एक बार मान लिया कि मेरे लिए ही,—सो भी ठीक सच नहीं है,—असलमें जबरदस्त बीमारीकी वजहसे ही।—मगर और तीन बार?"

मैंने कहा, "वह भी लगभग ऐसे ही कारणसे,—मच्छड़ोंके मारे। मच्छड़ोंका काटना चमड़ेसे बरदाश्त नहीं हुआ। अच्छा,—"

साधुने हँसकर कहा, "मुझे आप वज्रानन्द ही कहा कीजिएगा। आपका नाम—"

मुझसे पहले राजलक्ष्मीने ही जवाब दिया। बोली, "इनके नामसे क्या होगा। उमरमें ये बहुत बड़े हैं, इन्हें आप भइया कहा कीजिएगा। और मुझे भी भाभी कहें तो मैं नाराज न हूँगी। मैं भी तो उमरमें तुमसे चार-छै साल बड़ी ही हूँगी।"

साधुजीका चेहरा सुर्ख हो उठा। मैंने भी इतनी आशा नहीं की थी। आश्चर्यके साथ मैंने देखा कि यह वही प्यारी है। वही स्वच्छ, सरल, स्नेहातुरा आनन्दमयी! वही जिसने मुझे किसी भी तरह श्मशानमें नहीं जाने दिया और किसी भी हालतमें राजाके संसर्गमें नहीं टिकने दिया,—यह वही है। यह जो लड़का अपने कहींके स्नेह-बन्धनको तोड़कर चला आया है,—उसकी सम्पूर्ण अज्ञात वेदनाने राजलक्ष्मीके समस्त हृदयको मथ डाला है! किसी भी तरह इसे वह फिरसे घर लौटाना चाहती है।

साधु बेचारेने लज्जाके धक्केको सम्हालते हुए कहा, "देखिए, भइया कहनेमें मुझे ऐसी कोई आपत्ति नहीं, मगर हम संन्यासी लोगोंको किसीको इस तरह नहीं पुकारना चाहिए।"

राजलक्ष्मी लेशमात्र भी अप्रतिभ न हुई। बोली, "क्यों नहीं ? भइयाकी बहूको संन्यासी लोग कोई मौसी कहकर तो पुकारते नहीं, और बुआ कहते हों सो भी नहीं,—इसके सिवा मुझे तुम और क्या कहकर पुकार सकते हो ?"

लड़का निरुपाय होकर अन्तमें सलज्ज हँसते हुए चेहरेसे बोला, "अच्छी बात है। छै-सात घंटे और भी हूँ आपके साथ, इस बीचमें अगर जरूरत पड़ी तो वही कहूँगा।"

राजलक्ष्मीने कहा, "तो कहो न एक बार!"

साधु हँस पड़े, बोले, "जरूरत पड़ेगी तो कहूँगा,—झूठमूठ पुकारना ठीक नहीं।"

राजलक्ष्मीने उसकी पत्तलमें और भी चार-पाँच 'सन्देस' और बरफी परोस कर कहा, "अच्छा, उसीसे मेरा काम चल जायगा। मगर ज़रूरत पड़ने-पर मैं क्या कहकर तुम्हें बुलाऊँ, सो कुछ समझमें नहीं आता।" फिर मेरी तरफ इशारा करके कहा, "इन्हें तो बुलाया करती थी 'संन्यासी महाराज' कहके। सो अब हो नहीं सकता, घुटाला हो जायगा। अच्छा तो, मैं तुम्हें साधु-देवर कहा करूँ,—क्या कहते हो ?"

साधुजीने आगे तर्क नहीं किया, अत्यन्त गम्भीरताके साथ कहा, "अच्छा, सो ही सही।"

वे और बातोंमें चाहे जैसे हों, पर, देखा कि खाने-पीनेके मामलेमें उन्हें काफी रस-ज्ञान है। पछाँहकी उमदा मिठाइयोंकी वे क़दर करते हैं, और यही वजह है कि किसी वस्तुका उन्होंने असम्मान नहीं किया। एक तो बड़े जतन और परम स्नेहके साथ एकके बाद एक चीज परोसती जाती थी, और दूसरे सज्जन चुपचाप बिना किसी संकोचके गले उतारते जाते थे। मगर मैं उद्विग्न हो उठा। मन ही-मन समझ गया कि साधुजी पहले चाहे कुछ भी करते रहे हों, परन्तु फिलहाल ऐसी उपादेय भोज्य सामग्री इतनी ज्यादा तादादमें सेवन करनेका इन्हें मौका नहीं मिला है। परन्तु, कोई अगर अपनी दीर्घ-काल-व्यापी त्रुटिको एक ही बारमें एक साथ दूर करनेका प्रयत्न करे, तो उसे देखकर दर्शकोंके लिए

धैर्यकी रक्षा करना मुश्किल ही नहीं, असम्भव हो जाता है। लिहाजा, राजलक्ष्मीके और भी कई पेड़े और बरफी साधुजीकी पत्तलमें रखते ही मेरी अनजानमें नाक और मुँहसे एक साथ इतना बड़ा दीर्घ निःश्वास निकल पड़ा कि राजलक्ष्मी और उसके नये कुटुम्बी दोनों ही चौंक पड़े। राजलक्ष्मी मेरे मुँहकी ओर देखकर झटपट कह उठी, " तुम कमज़ोर आदमी हो, चलो उठकर मुँह-हाथ धो लो। हम लोगोंके साथ बैठे रहनेकी क्या ज़रूरत है ? "

साधुजीने एक बार मेरी तरफ, फिर राजलक्ष्मीकी तरफ और उसके बाद मिठाईवाले बरतनकी तरफ देखकर हँसते हुए कहा, " गहरी साँस लेनेकी तो बात ही है भाई ! कुछ भी तो अब नहीं बचा ! "

"अभी बहुत है" कहकर राजलक्ष्मी, मेरी ओर क्रुद्ध दृष्टिसे देखकर रह गई।

ठीक इसी समय रतन पीछे आकर खड़ा हो गया, बोला, " चिउड़ा आ बहुत मिलता है, पर दूध या दही कुछ भी तुम्हारे लिए नहीं मिला। "

साधु बेचारे अत्यन्त लज्जित होकर बोले, " आप लोगोंके आतिथ्यपर मैंने बड़ा अत्याचार किया है," यह कहकर वे सहसा उठना ही चाहते थे कि राजलक्ष्मी व्याकुल होकर कहने लगी, " मेरे सरकी कसम है, लालाजी, अगर उठे। कसम खाती हूँ, मैं सब उठाके फेंक दूँगी। "

साधु क्षण-भर तो विस्मयसे शायद यही सोचते रहे कि यह कैसी स्त्री है जो दो घड़ीकी जान-पहिचानमें ही इतनी गहरी घनिष्ठ हो उठी ! राजलक्ष्मीकी प्यारीका इतिहास जो नहीं जानता, उसके लिए तो यह आश्चर्यकी बात है ही ! उसके बाद, वह जरा हँसकर बोले, " मैं संन्यासी आदमी ठहरा, खाने-पीनेमें मुझे कोई हिचक नहीं है, मगर आपको भी तो कुछ खाना चाहिए। मेरी कसम खानेसे तो कुछ पेट भर नहीं जायगा ? "

राजलक्ष्मीने दाँतो-तले जीभ दबाकर गम्भीरताके साथ कहा, " छि-छि, ऐसी बात औरतोंसे नहीं कहना चाहिए, लालाजी। मैं यह सब-कुछ नहीं खाती, मुझसे बरदाश्त नहीं होता। नौकरोंके लिए खानेको काफी है,—आज रात-ही-भरकी तो बात है, जो कुछ मिल जाय, मुट्ठी-भर चिउड़ा-इउड़ा खाकर जरा पानी पी लेनेसे ही मेरा काम चल जायगा। लेकिन, भूख रहते तुम अगर उठ गये, तो थोड़ा-बहुत जो कुछ मैं खाती सो भी न खाऊँगी। विश्वास न हो तो इनसे पूछ लो। " इतना कहकर उसने मुझसे अपील की। मैंने कहा, " यह बात

सच है, इसे मैं हलफ़ उठाकर कहनेको तैयार हूँ । साधुजी, झूठमूठको बहस करनेसे कोई लाभ नहीं । भाईसाहब, हो सके तो बरतनको औंधा करके उँडेलवाने तक, सेवन करते चले जाओ; नहीं तो, यह सब फिर किसी काममें ही नहीं आयेगा । यह सब सामान रेलगाड़ीमें आया है,—लिहाजा भूखों मर जानेपर भी, कोई इन्हें तिल-भर भी नहीं खिला सकता । यह ठीक बात है । "

साधुने कहा, " मगर यह मिठाई तो गाड़ीकी छुई हुई नहीं मानी जाती ! "

मैंने कहा, " इसकी मीमांसा तो मैं इतने दिनोंमें भी खतम न कर सका भाई साहब; तब तुम क्या एक ही आसनमें फैसला कर डालोगे ? इससे तो बल्कि हाथका काम खतम करके उठ बैठना अच्छा, नहीं तो सूरज डूब जानेपर शायद चिउड़ा-पानी भी गलेसे नीचे उतारनेकी नौबत न आयेगी । मेरा कहना है, कि दो-चार घण्टे तो तुम साथमें हो ही, शास्त्रका विचार समझा सको तो रास्तेमें समझा देना,—उससे काम न होगा तो कमसे कम अकाज न बढ़ेगा । इस वक्त जो हो रहा है, वही होने दो । "

साधुने पूछा, " तो क्या दिन-भरसे इन्होंने कुछ खाया ही नहीं ? "

मैंने कहा, "नहीं । इसके सिवा कल भी क्या जाने क्या था, सुन रहा हूँ कि दो-चार फल-मूलके सिवा कल भी और कुछ मुँहमें नहीं दिया है ।"

रतन पीछे ही खड़ा था, गरदन हिलाकर क्या-जाने क्या कहते कहते,—शायद मालकिनकी आँखके गुप्त इशारेसे, सहसा रुक गया ।

साधुने राजलक्ष्मीकी ओर देखकर कहा, " इससे आपको कष्ट नहीं होता ?"

उत्तरमें राजलक्ष्मी सिर्फ़ जरा हँस दी, परन्तु मैंने कहा, " इस बातको आप प्रत्यक्ष और अनुमान किसी तरह भी नहीं जान सकते । हाँ, आँखोंसे जो कुछ देखा है उसमें, शायद, और भी दो-एक दिन जोड़े जा सकते हैं । "

राजलक्ष्मीने प्रतिवाद करते हुए कहा, " तुमने देखा है आँखोंसे ? कभी नहीं । "

इसका मैंने कुछ जवाब नहीं दिया, और साधुजीने भी फिर कोई प्रश्न नहीं किया । समयकी तरफ़ खयाल करके वे चुपचाप भोजन समाप्त करके उठ बैठे ।

रतन और उसके साथी दो जनोंको खाते-पीते बहुत देर हो गई । राजलक्ष्मीने अपने लिए क्या व्यवस्था की, सो वही जाने । हम लोग गंगामाटीके लिए जब रवाना हुए तब शाम हो चुकी थी । एकादशीका चाँद अब तक

उज्ज्वल न हुआ था, और अन्धकार भी कहीं कुछ न था। असबाबकी दोनों गाड़ियाँ सबके पीछे, राजलक्ष्मीकी गाड़ी बीचमें, और हम लोगोंकी गाड़ी अच्छी होनेके कारण सबसे आगे थी। साधुजीको पुकारकर मैंने कहा, "भाई साहब, पैदल तो चलते ही रहते हो, इसकी तुम्हें कोई कमी नहीं, आज-भरके लिए, न हो तो, मेरी ही गाड़ीपर पदार्पण करो।"

साधुने कहा, "साथ ही तो चल रहे हैं, न चल सकूँगा तो बैठ लूँगा,—मगर अभी जरा पैदल ही चलूँ।"

राजलक्ष्मीने मुँह निकालकर कहा, "तो तुम मेरे बॉडी-गार्ड होकर चलो लालाजी, तुम्हारे साथ बातचीत करती हुई चलूँगी।" यह कहकर उसने साधुजीको अपनी गाड़ीके पास बुला लिया। सामने ही मैं था। बीच-बीचमें गाड़ी, बैल और गाड़ीवानोंके सम्मिलित उपद्रवसे उनकी बातचीतके कुछ कुछ अंशसे वंचित होनेपर भी अधिकांश सुनता हुआ चला।

राजलक्ष्मीने कहा, "घर तुम्हारा इधर नहीं है, हमारे ही देशकी तरफ है, सो तो मैं तुम्हारी बातें सुनकर ही समझ गई थी, मगर आज कहाँ चले हो, सच्ची सच्ची बताना भाई?"

साधुने कहा, "गोपालपुर।"

राजलक्ष्मीने पूछा, "हमारी गंगामाटीसे वह कितनी दूर है?"

साधुने जवाब दिया, "आपकी गंगामाटी भी मुझे नहीं मालूम, और अपने गोपालपुरसे भी वाकिफ नहीं; लेकिन हाँ, होंगे दोनों पास-ही-पास। कमसे कम सुना तो ऐसा ही है।"

"तो फिर इतनी रातमें कैसे तो गाँव पहिचानोगे, और कैसे उनका घर ढूँढ़ निकालोगे जिनके यहाँ जा रहे हो?"

साधुजीने जरा हँसकर कहा, "गाँव पहिचाननेमें दिक्कत न होगी, क्योंकि, रास्तेपर ही शायद एक सूखा तालाब है, उसके दक्खिनसे कोस-भर चलनेसे ही वह मिल जायगा। और घर ढूँढ़नेकी तो तकलीफ उठानी ही नहीं पड़ेगी, क्योंकि सभी अनजान हैं। मगर हाँ, पेड़के नीचे तो जगह मिल ही जायगी, इसकी पूरी उम्मीद है।"

राजलक्ष्मीने व्याकुल होकर कहा, "ऐसे जाड़ेकी रातमें पेड़तले? इस

जरा-से कम्बलपर भरोसा रखके ? इसे मैं हरगिज़ बरदाश्त नहीं कर सकती, समझे लालाजी ! ”

उसके उद्वेगने मानो मुझ तकको चोट पहुँचाई । साधु कुछ देर चुप रहकर धीरेसे बोले, “ मगर हम लोगोंके तो घर-द्वार नहीं है, हम लोग तो पेड़तले ही रहा करते हैं, जीजी । ”

अबकी बार राजलक्ष्मी भी क्षण-भर मौन रहकर बोली, “ सो जीजीकी आँखोंके सामने नहीं । रातके वक्त भाईको मैं निराश्रय नहीं छोड़ सकती । आज मेरे साथ चलो, कल मैं तुम्हें खुद ही तैयारी करके भेज दूँगी । ”

साधु चुप रहे । राजलक्ष्मीने रतनको बुलाकर कह दिया कि बिना उनसे पूछे गाड़ीकी कोई भी चीज़ स्थानान्तरित न की जाय । अर्थात् संन्यासी महाराजका बॉक्स आज रात-भरके लिए रोक रक्खा गया ।

मैंने कहा, “ तो फिर क्यों झूठमूठको ठंडमें तकलीफ उठा रहे हो, भाई साहब, आ जाओ न मेरी गाड़ीमें ? ”

साधुने जरा कुछ सोचकर कहा, “ अभी रहने दो । जीजीके साथ जरा बात-चीत करता हुआ चल रहा हूँ । ”

मैंने भी सोचा कि ठीक है और ताड़ गया कि अभी साधु बाबाके मनमें नये सम्बन्धको अस्वीकार करनेका द्वन्द्व चल रहा है । मगर फिर भी, अन्त तक बचाव न हो सका । सहसा, जब कि उन्होंने अंगीकार कर ही लिया तब, बार-बार मेरे मनमें आने लगा कि जरा सावधान करके उनसे कह दूँ, ‘ महाराज, भाग जाते तो अच्छा होता । अन्तमें कहीं मेरी-सी दशा न हो ! ’

लेकिन, मैं चुप ही रहा ।

दोनोंकी बातचीत धड़ल्लेसे होने लगी । बैलगाड़ीके झकझोरों और उँघाईके झोंकोंमें, बीच-बीचमें उनकी बातचीतका सूत्र खोते रहनेपर भी, कल्पनाकी सहायतासे उसे पूरा करते हुए, रास्ता तय करनेमें मेरा समय भी बुरा नहीं बीता ।

शायद मैं ज़रा तन्द्रा-मग्न हो गया था, सहसा सुना, पूछा जा रहा है, “ क्यों आनन्द, तुम्हारे उस बॉक्समें क्या क्या है, भाई ? ”

उत्तर मिला, “ कुछ किताबें और दवा-दारू है जीजी । ”

“ दवा-दारू क्यों ? तुम क्या डाक्टर हो ? ”

"मैं तो संन्यासी हूँ। अच्छा, आपने क्या सुना नहीं जीजी, आपके उस तरफ़ हैज़ा फैल रहा है?"

"नहीं तो! यह बात तो हमारे गुमाश्तेने नहीं जताई। अच्छा, लालाजी, तुम हैज़ेको आराम कर सकते हो?"

साधुजीने जरा मौन रहकर कहा, "आराम करनेके मालिक तो हम लोग नहीं जीजी, हम लोग तो सिर्फ़ दवा देकर कोशिश कर सकते हैं। मगर इसकी भी ज़रूरत है, यह भी उन्हींका आदेश है।"

राजलक्ष्मीने कहा, "संन्यासी भी दवा दिया करते हैं, ठीक है, मगर सिर्फ़ दवा देनेहीके लिए संन्यासी नहीं बना जाता। अच्छा, आनन्द, तुम क्या सिर्फ़ इसीलिए संन्यासी हुए हो भइया?"

साधुने कहा, "सो ठीक मैं नहीं जानता, जीजी। मगर हाँ, देशकी सेवा करना भी हम लोगोंका एक व्रत है।"

"हम लोगोंका? तो शायद तुम लोगोंका एक दल होगा, न लालाजी?"

साधु कुछ जवाब न देकर चुप बने रहे। राजलक्ष्मीने फिर पूछा, "लेकिन सेवा करनेके लिए तो संन्यासी होनेकी ज़रूरत नहीं होती, भाई। तुम्हें यह मति-बुद्धि दी किसने, बताओ तो?"

साधुजीने इस प्रश्नका शायद उत्तर नहीं दिया, क्योंकि, कुछ देर तक किसीकी कोई बात सुननेमें नहीं आई। दसेक मिनट बाद कानमें भनक पड़ी, साधुजी कह रहे हैं, "जीजी, मैं बहुत ही क्षुद्र संन्यासी हूँ, मुझे यह नाम न भी दिया जाय तो ठीक है। मैंने तो सिर्फ़ अपना थोड़ा-सा भार फेंककर उसकी जगह दूसरोंका बोझ लाद लिया है।"

राजलक्ष्मी कुछ बोली नहीं, साधुजी कहने लगे, "मैं शुरूसे ही देख रहा हूँ कि आप मुझे बराबर घर लौटानेकी कोशिश कर रही हैं। मालूम नहीं क्यों, शायद जीजी होनेकी वजहसे ही। परन्तु, जिनका भार लेनेके लिए हम घर छोड़कर निकल आये हैं, वे कितने दुर्बल, कितने रुग्ण, कैसे निरुपाय, और कितनी संख्यामें हैं, यह अगर किसी तरह एक बार जान जातीं, तो उस बातको फिर मनमें भी न ला सकतीं।"

इसका भी राजलक्ष्मीने कुछ उत्तर नहीं दिया; परन्तु मैं समझ गया कि जो

प्रसंग छिड़ा है, उसमें अब दोनोंके मन और मतके मेल होनेमें देर नहीं होगी। साधुजीने भी ठीक जगहपर ही चोट की है। देशकी आभ्यन्तरिक अवस्था और उसके सुख, दुःख, अभावको मैं खुद भी कुछ कम नहीं जानता; मगर ये संन्यासी कोई भी क्यों न हों, इन्होंने अपनी इस थोड़ी-सी उमरमें मुझसे बहुत ज़्यादा और घनिष्ठ भावसे सब देखा-भाला है और बहुत विशाल हृदयसे उसे अपनाया है। सुनते सुनते आँखोंकी नींद आँसुओंमें परिवर्तित हो गई, और सारा हृदय क्रोध, क्षोभ, दुःख और व्यथासे मानों मथा जाने लगा। पीछेकी गाड़ीके अँधेरे कोनेमें अकेली बैठी हुई राजलक्ष्मीने एक प्रश्नतक नहीं किया,—इतनी बातोंमेंसे एक भी बातमें उसने साथ नहीं दिया। उसकी नीरवतासे साधु महाराजने क्या सोचा होगा, सो वे ही जानें; परन्तु, इस एकान्त स्तब्धताका सम्पूर्ण अर्थ मुझसे छिपा न रहा।

'देश'के मानी हैं वे गाँव जहाँ देशके चौदह-आने नर-नारी वास करते हैं। उन्हीं गाँवोंकी कहानी साधु कहने लगे। देशमें पानी नहीं है, प्राण नहीं हैं, स्वास्थ्य नहीं है,—जंगलकी गन्दगीसे जहाँ मुक्त प्रकाश और साफ हवाका मार्ग रुका हुआ है,—जहाँ ज्ञान नहीं, जहाँ विद्या नहीं, धर्म भी जहाँ विकृत और पथभ्रष्ट है, मृतकल्प जन्म-भूमिके इस दुःखका विवरण छापेके अक्षरोंमें भी पढ़ा है और अपनी आँखोंसे भी देखा है, परन्तु यह न होना, कितना बड़ा 'न होना' है, इस बातको, मालूम हुआ कि, आजसे पहले जानता ही न था। देशकी यह दीनता कितनी भयंकर दीनता है, आजसे पहले मानो उसकी धारणा भी मुझे न थी। सूखे सूने विस्तृत मैदानमेंसे हम लोग गुजर रहे हैं। सड़ककी धूल ओससे भीगकर भारी हो गई है। उसीपर गाड़ीके पहियों और बैलोंके खुरोंका शब्द कचित् सुनाई दे रहा है। आकाशकी चाँदनी पाण्डुर होकर, जहाँतक दृष्टि जाती है वहाँतक, फैल रही है। इसीके भीतरसे शीतऋतुकी इस निस्तब्ध निशीथमें हम लोग अज्ञातकी ओर धीर मन्थर गतिसे लगातार चल रहे हैं; अनुचरोंमेंसे कौन जाग रहा है और कौन नहीं, सो भी नहीं मालूम होता,— सभी कोई शीत-वस्त्रोंसे अपना सर्वाङ्ग ढके हुए चुपचाप पड़े हैं। सिर्फ अकेले संन्यासीजी ही हमारे साथ सजग चल रहे हैं,—और इस परिपूर्ण स्तब्धतामें सिर्फ उन्हींके मुँहसे देशके अज्ञात भाई-बहिनोंकी असह्य वेदनाका इतिहास मानो लपटें ले-लेकर जल-जलकर निकल रहा है। यह सोनेकी भूमि किस तरह धीरे

धीरे ऐसी शुष्क, ऐसी रिक्त हो गई, कैसे देशकी समस्त सम्पदा विदेशियोंके हाथमें पड़कर धीरे धीरे विदेशोंमें चली गई, किस तरह मातृ-भूमिके समस्त मेद-मज्जा और रक्तको विदेशियोंने शोषण कर लिया, इसके ज्वलन्त इतिहासको, मानो वह युवक आखोंके सामने एक-एक करके उद्घाटित करके दिखलाने लगा।

सहसा साधुने राजलक्ष्मीको सम्बोधन करके कहा, "मालूम होता है, तुम्हें मैं पहिचान सका हूँ जीजी। मनमें आता है, तुम जैसी बहिनोंको ले जाकर तुम्हारी अपनी आँखोंके सामने तुम्हारे उन सब भाई-बहिनोंको दिखलाऊँ।"

राजलक्ष्मीसे पहले तो कुछ बोला न गया, बादमें रुँधे हुए गलेसे वह बोली, "मुझे क्या ऐसा मौका मिल सकता है, आनन्द? मैं जो औरत हूँ, इस बातको मैं कैसे भूलूँ, भइया?"

साधुने कहा, "क्यों नहीं मिल सकता बहिन? और, तुम औरत हो, इस बातको ही यदि भूल जाओगी तो कष्ट उठाकर तुम्हें वह सब दिखानेसे मुझे लाभ ही क्या होगा?"

❧ ❧ ❧

४

साधुने पूछा, "गंगामाटी क्या तुम्हीं लोगोंकी जमींदारी है, जीजी?"

राजलक्ष्मीने जरा मुसकराकर कहा, "देखते क्या हो भाई, हम एक बड़े भारी जमींदार हैं।"

अबकी बार जवाब देनेमें साधु भी ज़रा हँस पड़ा। बोला, "बड़ी भारी ज़मींदारी, लेकिन, बड़ा-भारी सौभाग्य नहीं है, जीजी।" उसकी बातसे उसकी पार्थिव अवस्थाके सम्बन्धमें मुझे एक तरहका सन्देह उत्पन्न हुआ, परन्तु राजलक्ष्मी उस दिशासे नहीं गई। उसने सरल भावसे तत्क्षण स्वीकार करते हुए कहा, "बात तो सच है, आनन्द। यह सब जितनी ही दूर हो जाय, उतना अच्छा।"

"अच्छा जीजी, वे अच्छे हो जायँगे तो फिर तुम अपने शहरको लौट जाओगी?"

"लौट जाऊँगी? मगर वह तो बहुत दूरकी बात है भाई।"

साधुने कहा, "बन सके तो अब मत लौटना, जीजी। इन सब गरीब अभागोंको तुम लोग छोड़कर चली गई हो, इसीसे तो इनका दुःख-कष्ट चौगुना बढ़ गया है। जब पास थीं, तब भी तुमने इन्हें कष्ट न दिया हो सो बात नहीं, मगर दूर रहकर इतना निर्मम दुःख उन्हें न दे सकी होगी। तब जैसे दुःख दिया है, वैसे दुःख बँटाया भी है। जीजी, देशका राजा अगर देशहीमें रहे तो देशका दुःख-दैन्य शायद इस तरह गले तक न भर उठा करे। और, इस 'गले तक भरने'का मतलब क्या है और तुम लोगोंके शहर-वासके लिए सर्व प्रकार आहार-विहारका सामान जुटानेका अभाव और अपव्यय क्या है, इस चीज़को अगर एक बार आँखें पसारकर देख सकतीं जीजी—"

"क्यों आनन्द, घरके लिए तुम्हारा मन चंचल नहीं होता?"

साधुने संक्षेपमें कहा, "नहीं।"

वह बेचारा समझा नहीं, परन्तु मैं समझ गया कि राजलक्ष्मीने उस प्रसंगको दबा दिया, महज़ इसलिए कि उससे सहा नहीं जाता था।

कुछ देर मौन रहकर, राजलक्ष्मीने व्यथित कंठसे पूछा, "घरपर तुम्हारे कौन कौन हैं?"

साधुने कहा, "मगर घर तो मेरा अब रहा नहीं।"

राजलक्ष्मी फिर बहुत देरतक नीरव रहकर बोली, "अच्छा आनन्द, इस उमरमें संन्यासी होकर क्या तुमने शान्ति पाई है?"

साधुने हँसकर कहा, "अरे बापरे! संन्यासीको इतना लोभ! नहीं जीजी, मैंने तो सिर्फ दूसरोंके दुःखका भार थोड़ा-सा लेना चाहा है, और सिर्फ वही पाया है।"

राजलक्ष्मी फिर चुप रही। साधुने कहा, "वे शायद सो गये होंगे, लेकिन अब जरा उनकी गाड़ीमें जाकर बैठूँ। अच्छा जीजी, कभी दो-चार दिनके लिए अगर तुम लोगोंका अतिथि बनकर रहूँ तो क्या वे नाराज होंगे?"

राजलक्ष्मीने कहा, "वे कौन? तुम्हारे भाई साहब?"

साधुजीने जरा हँसकर कहा, "अच्छा, यही सही।"

राजलक्ष्मीने कहा, "और मैं नाराज हूँगी या नहीं, सो तो पूछा ही नहीं? अच्छा, पहले चलो तो एक बार गंगामाटी, उसके बाद इस बातका विचार किया जायगा।"

साधुजीने क्या कहा, सुन न सका, शायद कुछ कहा ही नहीं। थोड़ी देर बाद मेरी गाड़ीमें आकर पुकारा, "भाई साहब, आप जाग रहे हैं?"

मैं जाग ही रहा था, पर कुछ बोला नहीं। फिर वे मेरे पास ही थोड़ी-सी जगह निकालकर अपना फटा कम्बल ओढ़कर पड़ रहे। एक बार तबीयत तो हुई कि जरा खिसककर बेचारेके लिए थोड़ी-सी जगह और छोड़ दूँ, परन्तु हिलने-डुलनेसे कहीं उन्हें शक न हो जाय कि मैं जाग रहा हूँ, या मेरी नींद उचट गई है और इस गभीर निशीथमें फिर एक बार देशकी सुगभीर समस्याकी आलोचना होने लगे, इस डरसे मैंने करुणा प्रकट करनेकी चेष्टा तक न की।

गाड़ीने गंगामाटीमें कब प्रवेश किया मुझे नहीं मालूम; मुझे तो तब मालूम हुआ जब गाड़ी नये मकानके दरवाजेपर जा खड़ी हुई। तब सबेरा हो चुका था। एक साथ चार बैलगाड़ियोंके विविध और विचित्र कोलाहलसे चारों तरफ भीड़ तो कम नहीं मालूम हुई। रतनकी कृपासे पहले ही सुन चुका था कि गाँवमें मुख्यतः छोटी जात ही बसती है। देखा कि नाराजीमें भी उसने बिलकुल झूठ नहीं कहा था। ऐसे जाड़े-पालेमें, तड़के ही पचास-साठ नाना उमरके लड़के-लड़कियाँ, नंग-धड़ंग और उघड़े बदन, शायद हाल ही सोतेसे उठकर तमाशा देखनेके लिए जमा हो गये हैं। पीछेसे बाप महतारियोंका झुंड भी यथायोग्य स्थानसे ताक-झाँक रहा है। उन सबकी आकृति और पहनावा देखकर उनकी कुलीनताके बारेमें, और किसीके मनमें चाहे कुछ भी हो, मगर, रतनके मनमें शायद संशयकी भाप भी बाकी न रही। उसका सोतेसे उठा हुआ चेहरा निमेष मात्रमें विरक्ति और क्रोधसे बर्रोंके छत्तेके समान भीषण हो उठा। मालिकिनके दर्शन करनेकी अतिव्यग्रतासे कुछ लड़के-बाले कुछ आत्म-विस्मृत होकर सटते आ रहे थे। देखते ही रतनने ऐसे विकट रूपसे उन्हें धर खदेड़ा कि सामने अगर दो गाड़ीवान न होते तो वहीं एक खून खराबी हुई धरी थी। रतनको जरा भी लज्जाका अनुभव न हुआ। मेरी तरफ देखकर बोला, "दुनियाकी छोटी जात सब यहीं आकर मरी है! देखा बाबूजी, छोटी जातकी हिमाकत!—जैसे रथयात्रा देखने आये हों! हमारे यहाँके भले आदमी क्या यहाँ आकर रह सकते हैं बाबूजी? अभी सब छुआ-छूत करके एकाकार कर देंगे।"

'छुआ-छूत' शब्द सबसे पहले पहुँचा राजलक्ष्मीके कानोंमें। उसका चेहरा अप्रसन्न-सा हो गया।

साधुजी अपना बॉक्स उतारनेमें व्यस्त थे। अपना काम खतम करके वे एक लोटा निकालकर आगे बढ़ आये और पास ही जिस लड़केको पाया उसका हाथ पकड़कर बोले, " अरे लड़के, जा तो भइया, यहाँ कहीं अच्छा-सा तालाब-आलाब हो तो एक लोटा पानी तो ले आ,—चाय बनानी है। " यह कहकर उन्होंने लोटा उसके हाथमें थमा दिया, फिर सामने खड़े हुए एक अधेड़ उमरके आदमीसे कहा, " चौधरी, आसपास किसीके यहाँ गाय हो तो बता देना भइया, छटाक-भर दूध माँग लाऊँ। गाँवकी ताजी खालिस चीज़ ठहरी, चायका रंग ऐसा बढ़िया आयेगा जीजी,—" फिर उन्होंने एक बार मेरे और एक बार अपनी जीजीके चेहरेकी तरफ देखा। मगर 'जीजी'ने इस उत्साहमें जरा भी साथ नहीं दिया। अप्रसन्न मुखसे जरा मुसकराकर कहा, " रतन, जा तो भइया, लोटेको माँजकर जरा पानी तो ले आ। "

रतनके मिजाजका संवाद पहले ही दे चुका हूँ। उसके बाद, जब उसपर ऐसे जाड़े-पालेमें न-जाने कौन एक अनजान साधुके लिए, मालूम नहीं कहाँके तालाबसे, पानी लानेका भार पड़ा तब वह अपनेको न रोक सका। एक ही क्षणमें उसका सारा गुस्सा जाकर पड़ा, उससे भी जो छोटा था, उस अभागे लड़केपर। वह उसे एक जोरकी धमकी देकर बोल उठा, " पाजी बदमाश कहींका। लोटा क्यों छुआ तूने ? चल हरामज़ादे, लोटा माँजकर पानीमें डुबो देना!" इतना कहकर मानो वह सिर्फ अपनी आँख-मुँहकी चेष्टासे ही लड़केको गरदनियाँ देता हुआ ले गया।

उसकी करतूत देखकर साधु हँस पड़े, मैं भी हँस दिया। राजलक्ष्मीने खुद भी जरा सलज्ज हँसी हँसकर कहा, " गाँवमें तुमने तो उथल-पुथल मचा दी आनन्द, साधुओंको शायद रात बीतनेके पहले ही चाय चाहिए ? "

साधुने कहा, " गृहस्थोंके लिए रात नहीं बीती तो क्या हम लोगोंके लिए भी नहीं बीतेगी ? खूब ! लेकिन दूधकी तजबीज तो होनी ही चाहिए। अच्छा, घरमें घुसकर देखा तो जाय, लकड़ी-वकड़ी, चूल्हा-ऊल्हा कुछ है या नहीं ! ओ चौधरी, चलो न भइया, किसके यहाँ गाय है, चलके जरा दिखा दो। जीजी, कलकी उस मलरियामें बरफी-अरफी कुछ बची थी न ? या गाड़ीही-में अँधेरेमें उसे खतम कर दिया ? "

राजलक्ष्मीको हँसी आ गई। मुहल्लेकी जो दो-चार औरतें दूर खड़ी देख रही थीं उन्होंने मुँह फेर लिया।

इतनेमें गुमाश्ता काशीराम कुशारी महाशय घबराये हुए आ पहुँचे। साथमें उनके तीन-चार आदमी थे, किसीके सिरपर भरी टोकनी शाक-सब्जी और तरकारी थी, किसीके हाथमें भर-लोटा दूध, किसीके हाथमें दहीका बर्तन और किसीके हाथमें बड़ी-सी रोहू मछली। राजलक्ष्मीने उन्हें नमस्कार किया। वे आशीर्वादके साथ साथ, अपने आनेमें जरा देर हो जानेके लिए, तरह तरहकी कैफियत देने लगे। आदमी तो मुझे अच्छा ही मालूम हुआ। उमर पचाससे ज्यादा होगी। शरीर कुछ कृश, दाढ़ी-मूँछें मुड़ी हुई और रंग साफ है। मैंने उन्हें नमस्कार किया उन्होंने भी प्रति-नमस्कार किया। परन्तु, साधुजी इन सब प्रचलित शिष्टाचारोंके पाससे भी न फटके। उन्होंने तरकारीकी टोकनी अपने हाथसे उतरवाकर उसमेंसे एक-एकका विश्लेषण करके विशेष प्रशंसा की। दूध खालिस है, इस विषयमें अपना निःसंशय मत जाहिर किया, और मछलीके वज़नका अनुमान करके उसके आस्वादके विषयमें उपस्थित सभीको आशान्वित कर दिया।

इन साधुमहाराजके शुभागमनके विषयमें गुमाश्ता साहबको पहलेसे कुछ खबर नहीं मिली थी; इसलिए, उन्हें कुछ कुतूहल-सा हुआ। राजलक्ष्मीने कहा, "संन्यासीको देखकर आप डरें नहीं, कुशारी महाशय, ये मेरे भाई हैं।" फिर जरा हँसकर मृदु कंठसे कहा, "और बार बार गेरुआ वसन छुड़वाना मानो मेरा काम हो गया है!"

बात साधुजीके कानमें भी पड़ी। बोले, "पर यह काम उतना आसान न होगा, जीजी।" यों कहकर, मेरी ओर कनखियोंसे देखके ज़रा हँसे। इसके मानी मैं भी समझ गया और राजलक्ष्मी भी। मगर प्रत्युत्तरमें उसने सिर्फ ज़रा मुसकराकर कहा, "सो देखा जायगा।"

मकानके भीतर प्रवेश करके देखा गया कि कुशारी महाशयने इन्तज़ाम कुछ बुरा नहीं किया है। बहुत ही जल्दीकी वजहसे उन्होंने खुद अन्यत्र जाकर, पुराने कचहरीवाले मकानको थोड़ा बहुत जीर्णोद्धार कराके, खासा रहने-लायक बना दिया है। भीतर रसोई और भंडार-घरके सिवा सोनेके लिए दो कमरे भी हैं। कमरे हैं तो मिट्टीके ही और ऊपर छप्पर है, मगर खूब ऊँचे और

बड़े हैं। बाहरकी बैठक भी बहुत अच्छी है। आँगन लम्बा-चौड़ा, साफ-सुथरा और मिट्टीकी चहारदीवारीसे घिरा हुआ है। एक तरफ छोटा-सा एक कुआँ है, और उसके पास ही दो-तीन तगर और शेफालीके पेड़ हैं। दूसरी तरफ बहुत-से छोटे-बड़े तुलसीके पौधोंकी पंक्ति है, और चार-पाँचेक जूही और मल्लिकाके झाड़ हैं। कुल मिलाकर जगह बहुत अच्छी है, देखकर मनको तृप्ति हुई।

सबसे बढ़कर उत्साह देखा गया संन्यासी महाशयको। जो कुछ उनकी निगाहमें पड़ा, उसीपर वे उच्च कंठसे आनन्द प्रकट करने लगे,—जैसे ऐसा और कभी उन्होंने देखा ही न हो! मैं, शोर-गुल न मचानेपर भी, मन-ही-मन खुश ही हुआ। राजलक्ष्मी अपने भइयाके लिए रसोईमें चाय बना रही थी, इसलिए उसके चेहरेका भाव आँखोंसे तो नहीं दिखाई दिया, परन्तु मनका भाव किसीसे छिपा भी न रहा। सिर्फ साथ नहीं दिया तो एक रतनने। वह, मुँहको उसी तरह फुलाये हुए एक खम्भेके सहारे चुपचाप बैठा रहा।

चाय बनी। साधुजी कलकी बची हुई मिठाईके साथ चुपचाप दो प्याला चाय चढ़ाकर उठ बैठे और मुझसे बोले, "चलिए न, जरा घूम-फिर कर गाँव देख आवें। बाँध भी तो ज़्यादा दूर नहीं, उधरके उधर ही नहा भी आएँगे। जीजी, आइए न, जमींदारी देख-भाल आवें। शायद शरीफ लोग तो कोई होंगे नहीं,—शरम करनेकी भी विशेष कोई ज़रूरत नहीं। ज़ायदाद है अच्छी, देखके लोभ होता है।"

राजलक्ष्मीने हँसकर कहा, "सो तो मैं जानती हूँ। संन्यासियोंका स्वभाव ही ऐसा होता है!"

हमारे साथ एक रसोइया ब्राह्मण तथा और भी एक नौकर आया था, वे दोनों रसोईकी तैयारी कर रहे थे। राजलक्ष्मीने कहा, "नहीं महाराज, ऐसी ताजा मछली तुम्हारे हाथ सौंपनेका हियाव नहीं पड़ता, नहाके लौटनेपर रसोई मैं ही चढ़ाऊँगी।" यह कहकर वह हमारे साथ चलनेकी तैयारी करने लगी।

अब तक रतनने किसी बातचीत या काममें साथ नहीं दिया था। हम लोग जाने लगे तो वह अत्यन्त धीर गम्भीर स्वरमें बोला, "माजी, उस बाँध या ताल,—इस मुए देशके लोग क्या कहते हैं, उसमें आप मत नहाइएगा। बड़ी ज़बरदस्त जोंकें हैं उसमें,—एक-एक, सुनते हैं, हाथ-हाथ-भरकी।"

दूसरे ही क्षण राजलक्ष्मीका चेहरा मारे डरके फक पड़ गया,—" कहता क्या है रतन, इधर क्या बहुत जोंकें हैं?"

रतनने गरदन हिलाकर कहा, " जी हाँ, सुना तो ऐसा ही है।"

साधुने डपटकर कहा, " जी हाँ, सुन तो आया ही होगा! बेटा नाईने, सोच-साचकर अच्छी तरकीब निकाली है!" रतनके मनका भाव और जातिका परिचय साधुने पहलेहीसे प्राप्त कर लिया था; हँसके कहा, " जीजी, उसकी बात मत सुनो, चलो, चलें। जोंकें हैं या नहीं, इस बातकी परीक्षा न हो तो हम ही लोगोंसे करा लेना।"

मगर उनकी जीजी एक कदम भी आगे न बढ़ी, जोंकके नामसे एकदम अचल होकर बोली, " मैं तो कहती हूँ, आज न हो तो रहने दो, आनन्द! नई जगह ठहरी, अच्छी तरह बिना जाने-समझे ऐसा दुःसाहस करना ठीक नहीं होगा। रतन, तू जा भइया, यहींपर दो कलसे पानी कुआँसे ले आ।" मुझे आदेश मिला, " तुम कमज़ोर आदमी हो, तुम कहीं किसी अनजान बाँध-आँधमें नहा-नुहू मत आना। घरहीपर दो लोटा पानी डालकर आजका काम निकाल लेना।"

साधुजीने हँसकर कहा, " और मैं ही क्या इतना उपेक्षणीय हूँ जीजी, जो मुझे ही सिर्फ उस जोंकोंवाले तालाबमें पठाये देती हो?"

बात कोई बड़ी नहीं थी, मगर इतनेहीसे राजलक्ष्मीकी आँखें मानो सहसा डबडबा आईं। उसने क्षण-भर नीरव रहकर, अपनी स्निग्ध दृष्टिसे मानो उन्हें अभिषिक्त करते हुए, कहा, " तुम तो भइया, आदमीके हाथके बाहर हो। जिसने मा-बापका कहना नहीं माना, वह क्या कहींकी एक अनजान अपरिचित बहिनकी बात रखेगा?"

साधुजी जानेके लिए उद्यत होकर सहसा जरा ठहरकर बोले, " यह अनजान अपरिचित होनेकी बात मत कहो, बहिन। आप सब लोगोंको पहिचाननेके लिए ही तो घर छोड़कर निकला हूँ, नहीं तो मुझे इसकी क्या जरूरत थी, बताइए तो?" इतना कहकर वे जरा तेज़ीसे बाहर चले गये, और मैं भी पीछे पीछे उनके साथ हो लिया।

हम दोनोंने मिलकर खूब घूम-फिरके गाँव देख-भाल लिया। गाँव छोटा

है, और जिन्हें हम छोटी जात कहते हैं, उन्हींका है। वास्तवमें, दो घर तम्बोली और एक घर लुहारके सिवा गंगामाटीमें ऐसा कोई घर ही नहीं जिसका पानी लिया जा सके। सभी घर डोम और बाउरियोंके हैं। बाउरी लोग बेंतका काम और मजूरी करते हैं और डोम लोग टोकनी, सूप, डलिया वगैरह बनाकर और पोड़ामाटी गाँवमें बेचकर जीविका चलाते हैं। गाँवके उत्तरकी तरफ पानीके निकासका बड़ा नाला है, उसीके उसपार पोड़ामाटी है। सुननेमें आया कि वह गाँव बड़ा है, और उसमें बहुत-से घर ब्राह्मण, कायस्थ और अन्यान्य जातियोंके भी हैं। अपने कुशारी महाशयका घर भी उसी पोड़ामाटीमें है। मगर दूसरोंकी बात पीछे कहूँगा, फिलहाल अपने गाँवकी जो हालत आँखोंसे देखी, उससे मेरी दृष्टि आँसुओंसे धुँधली हो आई। बेचारोंने अपने अपने घरोंको जी-जानसे छोटे बनानेकी कोशिश करनेमें कुछ उठा नहीं रखा है, फिर भी इतने छोटे छोटे घरोंपर छाने लायक सूखा घास, इस सोनेके देशमें, उनके भाग्यसे नहीं जुटा। बीता-भर जमीनतक किसीके पास नहीं, सिर्फ डलिया-टोकनी-सूप बनाकर और पानीके मोल दूसरे गाँवोंमें सद्‌गृहस्थोंके द्वारोंपर बेचकर किस तरह इन लोगोंकी गुजर होती है, मैं तो सोच ही न सका। फिर भी, इसी तरह इन अशुचि अस्पृश्योंके दिन कट रहे हैं और शायद इसी तरह सबके हमेशासे कटे हैं, परन्तु किसीने भी किसी दिन इसका जरा खयाल तक नहीं किया। सड़कके कुत्ते जैसे पैदा होकर कुछ वर्ष तक जैसे-तैसे ज़िन्दा रहकर न जाने कहाँ, कब, कैसे मर जाते हैं,—उनका जैसे कहीं कोई हिसाब नहीं रखता, इन अभागोंका भी वही हाल है, मानो देशवासियोंसे वे इससे ज्यादा और कुछ दावा ही नहीं कर सकते। इनका दुःख, इनकी दीनता, इनकी सब तरहकी हीनता अपनी और पराई दृष्टिमें इतनी सहज और स्वाभाविक हो गई है कि मनुष्यके पास ही मनुष्यके इतने बड़े ज़बरदस्त अपमानसे कहीं किसीके भी मनमें लज्जाका रंच-मात्र भी संचार नहीं होता। मगर, साधुजी इधर जो मेरे चेहरेकी तरफ देख रहे थे, मुझे मालूम ही नहीं। वे सहसा बोल उठे, "भाई साहब, यही है देशकी सच्ची तसवीर। लेकिन, मनमें मलाल लानेकी ज़रूरत नहीं। आप सोच रहे होंगे कि ये बातें इन्हें दिन-रात सताया करती हैं, मगर यह बात क़तई नहीं।"

मैंने क्षुब्ध और अत्यन्त विस्मित होकर कहा, "यह बात क्या कही साधुजी?"

साधुजीने कहा, " मेरी तरह अगर सब जगह घूमा-फिरा करते भाई-साहब, तो समझ जाते कि मैंने लगभग सच बात ही कही है। असलमें दुःख भोगता कौन है भइया ? मन ही तो ? मगर वह बला क्या हम लोगोंने छोड़ी है इनमें ?—बहुत दिनोंसे लगातार सिकंजेमें दबा-दबाकर बिलकुल निचोड़ लिया है बेचारोंका मन। इससे ज्यादा चाहनेको अब ये खुद ही अनुचित स्पर्धा समझते हैं। वाह रे वाह! हमारे बाप-दादोंने भी सोच-विचार कर कैसी उमदा मशीन ईजाद की है, क्या कहने!" यह कहकर साधु अत्यन्त निष्ठुरकी भाँति 'हाः हाः' करके हँसने लगे। मगर मैं न तो उनकी हँसीमें ही शरीक हो सका, और न उनकी बातका ठीक ठीक अर्थ ही ग्रहण कर सका, और इसलिए मन-ही-मन लज्जित हो उठा।

इस साल फसल अच्छी नहीं हुई, और पानीकी कमीसे हेमन्त ऋतुके धान लगभग आधे सूख जानेसे अभीसे अभावकी हवा चलने लगी है। साधुजीने कहा, " भाई साहब, चाहे किसी बहाने ही सही, भगवानने जब आपको अपनी प्रजाके बीच ढकेल-ढुकूलकर भेज ही दिया है, तब अचानक भाग न जाइएगा। कमसे कम यह साल तो यहीं बिताकर जाइए। विशेष कुछ कर सकेंगे, यह तो मैं नहीं सोचता, पर आँखोंसे देखकर भी प्रजाके दुःखको बँटाना अच्छा है, इससे ज़मींदारी करनेके पापका बोझ कुछ हलका होता है।"

मैंने मन-ही-मन गहरी साँस लेकर सोचा,—जमींदारी और प्रजा जैसे मेरी ही हो! परन्तु, जैसे पहले जवाब नहीं दिया, अबकी बार भी उसी तरह चुप रहा।

छोटेसे गाँवकी प्रदक्षिणा करता हुआ नहा-धोकर जब वापस आया, तब बारह बज चुके थे। कल शामकी तरह आज भी हम दोनोंको भोजन परोसकर राजलक्ष्मी एक तरफ बैठ गई। सारी रसोई उसने खुद अपने हाथसे बनाई थी, लिहाजा मछलीका मुँहड़ा और दहीकी मलाई साधुकी पत्तलमें ही पड़ी। साधुजी वैरागी आदमी ठहरे, किन्तु, सात्विक और असात्विक, निरामिष और आमिष, किसी भी चीज़में उनका रंच-मात्र भी विराग देखनेमें नहीं आया, बल्कि इस विषयमें उन्होंने ऐसे प्रबल अनुरागका परिचय दिया जो घोर सांसारिकमें भी दुर्लभ है। जिस तरह रसोईके भले-बुरे मर्मको समझनेमें मेरी ख्याति नहीं थी, मुझे समझानेकी तरफ भी रसोईदारिनने कोई आग्रह प्रकट नहीं किया।

साधुजीको कोई जल्दी नहीं; बहुत ही धीरे-सुस्ते भोजन करने लगे। कौर चबाते हुए बोले, "जीजी, ज़ायदाद सचमुच ही अच्छी है, छोड़कर जानेमें ममता होती है।"

राजलक्ष्मीने कहा, "छोड़ जानेके लिए तो हम लोग तुमसे आरज़ू-बिनती नहीं कर रहे हैं, भइया!"

साधुजीने हँसकर कहा, "साधु-संन्यासीको कभी इतना प्रश्रय न देना चाहिए जीजी,—ठगाई जाओगी। खैर कुछ भी हो, गाँव अच्छा है, कहीं भी कोई ऐसा नहीं दिखाई दिया जिसके हाथका पानी लिया जा सके। और ऐसा भी एक घर नहीं देखा जिसके छप्परपर एक पूला सूखा घास भी दिखाई दिया हो,—जैसे मुनियोंके आश्रम हों।"

आश्रमके साथ अस्पृश्य घरोंका एक दृष्टिसे जो उत्कृष्ट सादृश्य था, उसका खयाल करके राजलक्ष्मीने जरा क्षीण हँसी हँसकर मुझसे कहा, "सुनते हैं कि सचमुच ही इस गाँवमें सिर्फ छोटी जात ही बसती है,—एक लोटा पानीका भी किसीसे आसरा नहीं। देखती हूँ, ज़्यादा दिन रहना नहीं हो सकेगा।"

साधु जरा हँसे, परन्तु मैं नीरव ही रहा। कारण, राजलक्ष्मी जैसी करुणामयी भी किस संस्कारके वश इतनी बड़ी लज्जाकी बात उच्चारण कर सकी, सो मैं जानता था। साधुकी हँसीने मुझे स्पर्श तो किया, किन्तु वह विद्ध न कर सकी। इसीसे, मुँहसे बोला तो कुछ नहीं, मगर, फिर भी मेरा मन उसी राजलक्ष्मीको ही लक्ष्य करके भीतर-ही-भीतर कहने लगा, 'राजलक्ष्मी, मनुष्यका कर्म ही केवल अस्पृश्य और अशुचि होता है, मनुष्य नहीं होता। नहीं तो, 'प्यारी' किसी भी तरह आज फिर 'लक्ष्मी'के आसनपर वापस न आ सकती। और वह भी सिर्फ इसीलिए सम्भव हुआ है कि मनुष्यकी देहको ही मनुष्य समझनेकी गलती मैंने कभी नहीं की। इस बातमें बचपनसे ही बहुत बार मेरी परीक्षा हो चुकी है। लेकिन, ये सब बातें मुँह खोलकर किसीसे कही भी नहीं जा सकतीं, और कहनेकी प्रवृत्ति भी नहीं होती।'

दोनों भोजन समाप्त करके उठे। राजलक्ष्मी हम लोगोंको पान देकर, शायद, खुद भी कुछ खाने चली गई। परन्तु, करीब घंटे-भर बाद लौटकर जैसे वह खुद भी साधुजीको देखकर आसमानसे गिरी-सी मालूम हुई, वैसे मैं भी विस्मित हो गया। देखा कि, इसी बीचमें न जाने कब वे बाहरसे एक आदमी

ले आये हैं और दवाओंका भारी बॉक्स उसके सिरपर लादकर खुद प्रस्थानके लिए तैयार खड़े हैं।

कल यही बात तै हुई थी, मगर आज हम उस बातको बिलकुल ही भूल गये थे। इस बातकी कल्पना भी नहीं की थी कि इस प्रवासमें राजलक्ष्मीके इतने आदर-जतनकी उपेक्षा करके साधुजी अनिश्चित अन्यत्रके लिए इतनी जल्दी तैयार हो जायँगे। स्नेहकी जंजीर इतनी जल्दी नहीं टूटनेकी,—राजलक्ष्मीके निभृत मनमें शायद यही आशा थी। वह मारे डरके व्याकुल होकर कह उठी, "तुम क्या जा रहे हो आनन्द ?"

साधुने कहा, "हाँ जीजी, जाता हूँ। अभीसे रवाना न होनेसे पहुँचनेमें बहुत रात हो जायगी।"

"वहाँ कहाँ ठहरोगे, कहाँ सोओगे ? अपना आदमी तो वहाँ कोई होगा नहीं।"

"पहले पहुँचूँ तो सही।"

"कब लौटोगे ?"

"सो तो अभी नहीं कहा जा सकता। कामकी भीड़में अगर आगे न बढ़ गया, तो किसी दिन लौट भी सकता हूँ।"

राजलक्ष्मीका मुँह पहले तो फक पड़ गया, फिर उसने जोरसे अपना सिर झटकाकर रुँधे हुए कंठसे कहा, "किसी दिन लौट भी सकते हो ? नहीं, यह हरगिज़ नहीं हो सकता।"

क्या नहीं होगा सो समझमें आ गया, इसीसे साधुने प्रत्युत्तरमें सिर्फ ज़रा म्लान हँसी हँसकर कहा, "जानेका कारण तो आपको बता ही चुका हूँ।"

"बता चुके हो ? अच्छा, तो जाओ", इतना कहते कहते राजलक्ष्मी प्रायः रो दी, और जल्दीसे कमरेके भीतर चली गई। क्षण-भरके लिए साधुजी स्तब्ध हो गये। उसके बाद मेरी तरफ देखकर लज्जित मुखसे बोले, "मेरा जाना बहुत ज़रूरी है।"

मैंने गरदन हिलाकर सिर्फ इतना ही कहा, "मालूम है।" इससे ज्यादा और कुछ कहनेको था भी नहीं। कारण, मैंने बहुत-कुछ देखकर जान लिया है कि स्नेहकी गहराई समयकी स्वल्पतासे हरगिज नहीं नापी जा सकती। और,

इस चीज़की कवियोंने सिर्फ काव्योंके लिए ही शून्य कल्पना नहीं की,— संसारमें वास्तवमें ऐसा हुआ करता है। इसीलिए, एकके जानेकी आवश्यकता जितनी सत्य है, दूसरेका व्याकुल कंठसे मना करना भी ठीक उतना ही सत्य है या नहीं, इस विषयमें मेरे मनमें रंच-मात्र भी संशयका उदय नहीं हुआ। मैं अत्यन्त सरलतासे समझ गया कि इस बातको लेकर राजलक्ष्मीको शायद बहुत वेदना सहनी पड़ेगी।

साधुजीने कहा, "मैं चल दिया। उधरका काम अगर निबट गया, तो शायद, फिर आऊँगा; मगर अभी यह बात जतानेकी ज़रूरत नहीं।"

मैंने स्वीकार करते हुए कहा, "सो सही है।"

साधुजी कुछ कहना ही चाहते थे कि घरकी ओर देखकर सहसा एक गहरी उसास भरकर जरा मुसकराये; उसके बाद धीरे धीरे बोले, "अजीब देश है यह बंगाल! इसमें राह चलते मा-बहिनें मिल जाती हैं, किसमें सामर्थ्य है कि इनसे बचकर निकल जाय?"

इतना कहकर साधुजी धीरे धीरे बाहर चले गये।

उनकी बात सुनकर मैंने भी एक गहरी साँस ली। मालूम हुआ, बात असलमें ठीक है! देशकी समस्त मा-बहिनोंकी वेदनाने जिसे खींचकर घरसे बाहर निकाला है, उसे सिर्फ एक ही बहिन स्नेह, दहीकी मलाई और मछलीका मूँड़ देकर कैसे पकड़ रख सकती है?

× × ×

५

साधुजी तो खुशीसे चले गये। उनकी विरह-व्यथाने रतनको कैसा सताया, यह उससे नहीं पूछा गया; सम्भवतः ऐसा कुछ सांघातिक न होगा। परन्तु, एक व्यक्तिको तो मैंने रोते रोते कमरेमें घुसते देखा; अब तीसरा व्यक्ति रह गया मैं। उस आदमीके साथ पूरे चौबीस घंटे भी मेरी घनिष्ठता न हो पाई थी, फिर भी मुझे ऐसा मालूम होने लगा मानो हमारी इस अनारब्ध गृहस्थीमें वह एक बड़ा-सा छिद्र कर गया है। और जाते वक्त यह भी न बता गया कि आखिर यह अनिष्ट अपने-आप ही ठीक हो जायगा या स्वयं वही, फिर एक दिन इसी तरह अकस्मात् अपनी दवाओंकी भारी पेटी लादे, इसे मरम्मत करने सशरीर आ पहुँचेगा। और मुझे स्वयं कोई भारी उद्वेग हो रहा हो, सो

नहीं। नाना कारणोंसे, और खासकर कुछ दिनोंसे ज्वरमें पड़े पड़े, मेरे शरीर और मनमें ऐसा ही एक निस्तेज निरालम्ब भाव आ गया था कि एक-मात्र राजलक्ष्मीके हाथमें ही सर्वतोभावसे आत्म-समर्पण करके दुनियादारीकी सभी भलाई-बुराइयोंसे मैंने छुट्टी पा ली थी। लिहाजा, किसी बातके लिए स्वतंत्र रूपसे चिन्ता करनेकी न मुझे जरूरत थी और न शक्ति ही। फिर भी, मनुष्यके मनकी चंचलताको मानो विराम है ही नहीं,—बाहरके कमरेमें तकियेके सहारे मैं अकेला बैठा था, न-जाने कितनी इखरी-बिखरी चिन्ताएँ मेरे मनमें चक्कर लगाने लगीं,—सामनेके आँगनमें प्रकाशकी दीप्ति धीरे धीरे म्लान होकर आसन्न रात्रिके इशारेसे मेरे अन्यमनस्क मनको बार बार चौंका देने लगी,—मालूम होने लगा, इस जीवनमें जितनी भी रातें आईं और गईं हैं, उनके सहित आजकी इस अनागत निशाकी अपरिज्ञात मूर्ति मानो किसी अदृष्टपूर्व नारीके अवगुण्ठित मुखकी तरह ही रहस्यमय है। फिर भी, इस अपरिचिताकी कैसी प्रकृति है और कैसी प्रथा, इस बातको बिना जाने ही इसके अन्त-तक पहुँचना ही होगा, मध्य-पथमें इस विषयमें कुछ विचार ही नहीं चल सकता! फिर, दूसरे ही क्षण मानो अक्षम चिन्ताकी सारी साँकलें टूटकर सब कुछ उलट-पलट जाने लगा। जब कि मेरे मनकी ऐसी हालत थी, तब पासका दरवाजा खोलकर राजलक्ष्मीने कमरेमें प्रवेश किया। उसकी आँखें कुछ कुछ सुर्ख़ हो रही थीं और कुछ फूलीं-सी। धीरेसे मेरे पास बैठकर बोली, "सो गई थी।"

मैंने कहा, "इसमें आश्चर्य क्या है! जिस भार और जिस श्रान्तिको तुम ढोती चली जा रही हो, दूसरा कोई होता तो उससे टूट ही पड़ता,—और मैं होता तो दिन रातमें मुझसे कभी आँखें भी न खोली जातीं,—कुम्भकर्णकी नींद सो जाता।"

राजलक्ष्मीने मुसकराते हुए कहा, "लेकिन, कुम्भकर्णको तो मलेरिया नहीं था। खैर, तुम तो दिनमें नहीं सोये?"

मैंने कहा, "नहीं, पर अब नींद आ रही है, जरा सो जाऊँ। कारण, कुम्भकर्णको मलेरिया नहीं था, इस बातका बाल्मीकिने भी कहीं उल्लेख नहीं किया है।"

उसने घबराकर कहा, "सोओगे इतने सिदौसे? माफ़ करो तुम,—फिर क्या बुखार आनेमें कोई कसर रह जायगी? यह सब नहीं होनेका,—अच्छा, जाते वक्त आनन्द क्या तुमसे कुछ कह गया है?"

मैंने पूछा, "तुम किस बातकी आशा करती हो?"

राजलक्ष्मीने कहा, "यही कि कहाँ कहाँ जायगा,—अथवा—"

यह 'अथवा' ही असली प्रश्न है। मैंने कहा, "कहाँ-कहाँ जायँगे, इसका तो एक तरहसे आभास दे गये हैं, मगर, इस 'अथवा' के बारेमें कुछ भी नहीं कह गये। मैं तो उनके वापस आनेकी कोई खास सम्भावना नहीं देखता।"

राजलक्ष्मी चुप बनी रही, परन्तु मैं अपने कुतूहलको न रोक सका, पूछा, "अच्छा, इस आदमीको क्या तुमने सचमुच पहिचान लिया है? जैसे मुझे एक दिन पहिचान लिया था?"

उसने मेरे चेहरेकी तरफ कुछ देर तक चुपचाप देखकर कहा, "नहीं।"

मैंने कहा, "सच बताओ, क्या पहले कभी किसी दिन देखा ही नहीं?"

अबकी बार राजलक्ष्मीने मुसकराते हुए कहा, "तुम्हारे सामने मैं सौगंध तो नहीं खा सकती। कभी कभी मुझसे बड़ी गलती हो जाती है। तब अपरिचित आदमीको देखकर भी मालूम होता है कि कहीं देखा है, उसका चेहरा पहिचाना हुआ-सा मालूम होता है, सिर्फ इतना ही याद नहीं पड़ता कि कहाँ देखा है। आनन्दको भी शायद कभी कहीं देखा हो।"

कुछ देरतक चुपचाप बैठी रहनेके बाद धीरेसे बोली, "आज आनन्द चला तो गया, पर अगर वह कभी वापस आया तो उसे अपने मा-बापके पास ज़रूर वापस भेजूँगी, यह बात तुमसे निश्चयसे कहती हूँ।"

मैंने कहा, "इससे तुम्हारी गरज?"

उसने कहा, "ऐसा लड़का हमेशा बहता फिरेगा, इस बातको सोचते हुए भी मानो मेरी छाती फटने लगती है। अच्छा, तुमने खुद भी घर-गृहस्थी छोड़ी थी,—संन्यासी होनेमें क्या सचमुचका कोई आनन्द है?"

मैंने कहा, "मैं सचमुचका संन्यासी हुआ ही नहीं, इसलिए उसके भीतरकी सच्ची ख़बर तुम्हें नहीं दे सकता। अगर किसी दिन वह लौट आवे, तो उसीसे पूछना।"

राजलक्ष्मीने पूछा, "अच्छा, घर रहकर क्या धर्म-लाभ नहीं होता? घर बिना छोड़े क्या भगवान नहीं मिलते?"

प्रश्न सुनकर मैंने हाथ जोड़के कहा, "दोनोंमेंसे किसीके लिए भी मैं व्याकुल नहीं हूँ लक्ष्मी, ऐसे घोरतर प्रश्न तुम मुझसे मत किया करो, इससे मुझे फिर बुखार आ सकता है।"

राजलक्ष्मी हँस दी, फिर करुण कंठसे बोली, "पर, मालूम होता है आनन्दके घर सब-कुछ मौजूद है, फिर भी उसने धर्मके लिए इसी उमरमें सब छोड़ दिया है। मगर तुम तो ऐसा नहीं कर सके?"

मैंने कहा, "नहीं, और भविष्यमें भी शायद न कर सकूँगा।"

राजलक्ष्मीने कहा, "क्यों भला?"

मैंने कहा, "इसका प्रधान कारण यह है कि जिसे छोड़ना चाहिए वह घर-गृहस्थी मेरे कहाँ है और कैसी है, सो मैं नहीं जानता, और जिसके लिए छोड़ी जाय उस परमात्माके लिए भी मेरे रंचमात्र लोभ नहीं। इतने दिन उनके बिना ही कट गये हैं, और बाकी दिन भी अटके न रहेंगे, मुझे इस बातका पूरा भरोसा है। दूसरी तरफ, तुम्हारे ये आनन्द भाई साहब गेरुआ-वसन धारण करनेपर भी, ईश्वर-प्राप्तिके लिए ही निकल पड़े हों, ऐसा मैं नहीं समझता। कारण यह कि मैंने भी कई बार साधुओंका संग किया है, उनमेंसे किसीने भी आजतक दवाओंकी पेटी लादे घूमनेको भगवत्-प्राप्तिका उपाय नहीं बताया है। इसके सिवा उनके खाने-पीनेका हाल तो तुमने आँखोंसे देखा ही है!"

राजलक्ष्मी क्षण-भर चुप रहकर बोली, "तो क्या वह झूठमूठको ही घर-गृहस्थी छोड़कर इतना कष्ट उठानेके लिए निकला है? सभीको क्या तुम अपने ही समान समझते हो?"

मैंने कहा, "नहीं तो, बड़ा-भारी अन्तर है। वे भगवानकी खोजमें न निकलनेपर भी, जिसके लिए निकले हैं वह उनके आत्मीय-ज्ञान मालूम होता है, अर्थात् अपना देश। इसलिए उनका घर-द्वार छोड़ आना ठीक घर-गृहस्थी छोड़ना नहीं है; साधुजीने तो सिर्फ एक छोटी गृहस्थी छोड़कर बड़ी गृहस्थीमें प्रवेश किया है।"

राजलक्ष्मी मेरे मुँहकी ओर देखती रही, शायद ठीकसे समझ न सकी। उसने फिर पूछा, "जाते वक्त वह क्या तुमसे कुछ कह गया है?"

मैंने गरदन हिलाकर कहा, "नहीं तो, ऐसी कोई बात नहीं कही।"

क्यों मैंने जरा-सा सत्य छिपाया, सो मैं खुद भी नहीं जानता। चलते समय साधुने जो बात कही थी, वह अब तक मेरे कानोंमें ज्योंकी त्यों गूँज रही थी। जाते समय वे कह गये थे, 'विचित्र देश है यह बंगाल! यहाँ राह-चलते मा-बहिनें मिल जाती हैं,—किसमें सामर्थ्य है जो इनसे बचकर निकल जाय!'

म्लान मुखसे राजलक्ष्मी चुपचाप बैठी रही, मेरे भी मनमें बहुत दिनोंकी बहुत-सी भूली हुई घटनायें धीरे धीरे झाँककर देखने लगीं। मन-ही-मन मैंने कहा, 'ठीक है! ठीक है! साधुजी, तुम कोई भी क्यों न हो, इतनी कम उमरमें ही तुमने अपने इस कंगाल देशको अच्छी तरह देख लिया है। नहीं तो, आज तुम इसके यथार्थ रूपकी खबर इतनी आसानीसे इतने कम शब्दोंमें नहीं दे सकते। जानता हूँ, बहुत दिनोंकी त्रुटियों और अनेक विच्युतियोंने हमारी मातृभूमिके सर्वांगमें कीचड़ लेप दिया है, फिर भी, जिसे इस सत्यकी परीक्षा करनेका अवसर मिला है, वह जानता है कि यह कितना बड़ा सत्य है।'

इसी तरह चुप-चाप दस-पन्द्रह मिनट बीत जानेपर राजलक्ष्मीने मुँह उठाकर कहा, "अगर यही उद्देश्य उसके मनमें हो, तो किसी-न-किसी दिन उसे घर लौटना ही होगा, मैं कहे देती हूँ। इस देशमें एक-मात्र पराया भला करने-वालोंकी दुर्गतिसे शायद वह परिचित नहीं है। इसका स्वाद कुछ कुछ मुझे मिल चुका है, मैं जानती हूँ। मेरी तरह एक दिन जब संशय बाधा और कटु वचनोंसे उसका सारा मन विरक्ति-रससे भर जायगा, तब फिर उसे वापस भागनेको राह भी ढूँढ़े न मिलेगी।"

मैंने हाँमें हाँ मिलाते हुए कहा, "यह कोई असम्भव बात नहीं, पर मुझे मालूम होता है कि इन सब दुःखोंकी बात वह अच्छी तरह जानता है।"

राजलक्ष्मी बार बार सिर हिलाकर कहने लगी, "कभी नहीं, हरगिज नहीं। जाननेके बाद फिर कोई भी उस रास्तेपर नहीं जा सकता, मैं कहती हूँ।"

इस बातका कोई जवाब न था। बंकूके मुँहसे सुना था कि ससुरालके गाँवमें एक बार राजलक्ष्मीके अनेक साधु संकल्पों और पुण्य कर्मोंका अत्यन्त अपमान हुआ था। उसी निष्काम परोपकारकी व्यथा बहुत दिनोंसे उसके मनमें लगी हुई थी। यद्यपि, और भी एक पहलू देखनेका था, परन्तु उस अवलुप्त वेदनाके स्थानको चिह्नित करनेकी मेरी प्रवृत्ति न हुई, इसीलिए चुपचाप बैठा रहा। हालाँ कि राजलक्ष्मी जो कुछ कह रही थी वह झूठ नहीं है। मैं मन-ही-मन सोचने लगा, क्यों ऐसा होता है? क्यों एककी शुभ चेष्टाओंको दूसरा सन्देहकी दृष्टिसे देखता है? आदमी इन सबको विफल करके संसारमें दुःखका भार घटने क्यों नहीं देता? मनमें आया कि अगर साधुजी होते या कभी अगर वापस आये, तो इस जटिल समस्याकी मीमांसाका भार उन्हींपर सौंप दूँगा।

उस दिन सबेरेसे पास ही कहीं नौबतकी आवाज़ सुनाई दे रही थी। अब कुछ आदमी रतनको अग्रवर्ती करके आँगनमें आ खड़े हुए। रतनने सामने आकर कहा, "माजी, ये आपको 'राज-वरण' देने आये हैं। आओ न, दे जाओ न,—" कहते हुए उसने एक प्रौढ़-से आदमीकी ओर इशारा किया। वह आदमी वसन्ती रंगकी धोती पहने था और गलेमें उसके लकड़ीकी नई माला थी। उसने अत्यन्त संकोचके साथ आगे बढ़कर बरामदेके नीचेसे ही नये शाल-पत्तेपर एक रुपया और एक सुपारी राजलक्ष्मीके चरणोंके उद्देश्यसे रखकर जमीनपर माथा टेककर प्रणाम किया, और कहा, "मातारानी, आज मेरी लड़कीका ब्याह है।"

राजलक्ष्मी उठकर आई और उसे स्वीकार करके पुलकित चित्तसे बोली "लड़कीके ब्याहमें यही दिया जाता है क्या?"

रतनने कहा, "नहीं माजी, सो बात नहीं, जिसकी जैसी सामर्थ्य होती है, उसीके माफिक जमींदारकी भेंट करता है,—ये छोटी जातवाले ठहरे, डोम, इससे ज्यादा ये पायेंगे कहाँ, यही कितनी मुश्किलसे—"

परन्तु निवेदन समाप्त होनेके पहले ही डोमका रुपया सुनते ही राजलक्ष्मीने झटपट उसे नीचे रखकर कहा, तो रहने दो, रहने दो, यह भी देनेकी ज़रूरत नहीं,—तुम लोग ऐसे ही लड़कीका ब्याह कर दो।"

इस भेंट लौटा देनेके कारण लड़कीका पिता और उससे भी अधिक रतन खुद बड़ी आफतमें पड़ गया; वह नाना प्रकारसे समझानेकी कोशिश करने लगा कि इस राज-वरणके सम्मानको बिना मंजूर किये किसी तरह चल ही नहीं सकता। राजलक्ष्मी उस सुपारीसमेत रुपयेको क्यों नहीं लेना चाहती, इस बातको मैं कमरेके भीतर बैठे ही बैठे समझ गया था, और रतन किसलिए इतना अनुरोध कर रहा है, सो भी मुझसे छिपा न था। जहाँ तक सम्भव है, दिया जानेवाला रुपया और भी ज़्यादा पाने और गुमाश्ता कुशारी महाशयके हाथसे छुटकारा पानेके लिए ही यह कार्रवाई की गई है; और रतन 'हुजूर' आदि सम्भाषणके बदले उनका मुखपात्र होकर अर्जी पेश करने आया है। वह काफी आश्वासन देकर उन्हें लाया होगा, इसमें तो कोई शक ही नहीं। उसका यह संकट अन्तमें मैंने ही दूर किया। उठकर मैंने ही रुपया उठाया और कहा, "मैंने ले लिया, तुम घर जाकर ब्याहकी तैयारियाँ करो।"

रतनका चेहरा मारे गर्वके चमक उठा, और राजलक्ष्मीने अस्पृश्यके प्रतिग्रहके दायित्वसे छुटकारा पाकर सुखकी साँस ली। वह खुश होकर बोली, "यह अच्छा ही हुआ, जिनका मान्य है उन्होंने अपने हाथसे ले लिया।" यह कहकर वह हँस दी।

मधु डोमने कृतज्ञतासे भरकर हाथ जोड़कर कहा, "हजूर, पहर रातके भीतर ही लगन है, एक बार अगर हजूरके पैरोंकी धूल गरीबके घर पड़ती—" इतना कहकर वह एक बार मेरे और एक बार राजलक्ष्मीके मुँहकी ओर करुण दृष्टिसे देखता रहा।

मैं राजी हो गया, राजलक्ष्मी खुद भी जरा हँसकर नौबतकी आवाज़से अन्दाजा लगाकर बोली, "वही है न तुम्हारा घर मधु ? अच्छा, अगर समय मिला तो मैं भी जाकर एक बार देख आऊँगी।" रतनकी तरफ देखकर बोली, "बड़ा सन्दूक खोलकर देख तो रे, मेरी नई साड़ियाँ आई हैं कि नहीं ? जा, लड़कीको एक दे आ। मिठाई शायद यहाँ मिलती न होगी, बताशे मिलते हैं ? अच्छा, सो ही सही। कुछ वे ही लेते जाना। अच्छा हाँ, तुम्हारी लड़कीकी उमर क्या है मधु ? वर कहाँका रहनेवाला है ? कितने आदमी जीमेंगे ? इस गाँवमें कितने घर हैं तुम लोगोंके ?"

जमींदार-गृहिणीके एक साथ इतने प्रश्नोंके उत्तरमें मधुने सम्मान और विनयके साथ जो कुछ कहा, उससे मालूम हुआ कि, उसकी लड़कीकी उमर नौ सालके भीतर ही है, वर युवक है, उमर तीस-चालीससे ज्यादा न होगी, वह चार-पाँच कोस उत्तरकी तरफ किसी गाँवमें रहता है,—वहाँ उसकी समाजका एक बड़ा हिस्सा रहता है, वहाँ जातीय पेशा कोई नहीं करता,—सभी कोई खेती-बारी करते हैं,—लड़की खूब सुखसे रहेगी,—डर है तो सिर्फ आजकी रातका। कारण, बारातियोंकी तादाद कितनी होगी और वे कहाँ क्या फसाद कर बैठेंगे, सो बिना सबेरा हुए कुछ कहा नहीं जा सकता। सभी कोई पैसेवाले ठहरे,—कैसे उनकी मान-मर्यादा कायम रखकर शुभ-कर्म सम्पन्न होगा, इसी चिन्तामें बेचारा सूखके काँटा हुआ जा रहा है। इन सब बातोंका विस्तारके साथ वर्णन करके अन्तमें उसने कातरताके साथ निवेदन किया कि चिउड़ा, गुड़ और दहीका इन्तज़ाम हो गया है, यहाँ तक कि आखिरमें दो दो बड़े बताशे भी

पत्तलोंमें परोसे जायँगे; मगर फिर भी अगर कोई गड़बड़ी हुई तो हम लोगोंकी रक्षा करनी होगी।

राजलक्ष्मीने कुतूहलके साथ ढाढस देकर कहा, "गड़बड़ी कुछ न होने पायेगी मधु, तुम्हारी लड़कीका ब्याह निर्विघ्न हो जायगा, मैं आशीर्वाद देती हूँ। तुमने खाने-पीनेकी इतनी चीजें इकट्ठी की हैं कि तुम्हारे समधीके साथी लोग खाकर खुशी खुशी घर जायँगे।"

मधुने ज़मीनसे माथा टेककर प्रणाम करके अपने साथियोंके साथ प्रस्थान किया, परन्तु उसका चेहरा देखकर मालूम हुआ कि इस आशीर्वादके भरोसे उसने कोई खास सान्त्वना प्राप्त नहीं की; आजकी रातके लिए लड़कीके पिताके अन्दर काफी उद्वेग बना ही रहा।

शुभ कर्ममें पैरोंकी धूल देनेके लिए मधुको आशा दी थी; परन्तु, सचमुच ही जाना होगा, ऐसी सम्भावना शायद हममेंसे किसीके भी मनमें न थी। शामके बाद दियाके सामने बैठकर राजलक्ष्मी अपने आय-व्ययका एक चिट्ठा पढ़कर सुना रही थी, मैं बिस्तरपर पड़ा हुआ आँखें मींचे कुछ सुन रहा था और कुछ नहीं भी सुन रहा था, किन्तु पास ही ब्याहवाले घरका शोर-गुल कुछ देरसे ज़रा कुछ असाधारण रूपसे प्रखर होकर मेरे कानोंमें खटक रहा था। सहसा मुँह उठाकर राजलक्ष्मीने हँसते हुए कहा, "डोमके घर ब्याह है, मार-पीट होना भी उसका कोई अंग तो नहीं है?"

मैंने कहा, "ऊँची जातकी नकल अगर की हो तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं। वे सब बातें याद तो हैं तुम्हें?"

राजलक्ष्मीने कहा, "हूँ।" उसके बाद क्षण-भर तक कान खड़े करके एक गहरी साँस लेकर कहा, "वास्तवमें, इस जले देशमें जिस तरह हम लोग लड़कियोंको बहा देते हैं, उसमें छोटे-बड़े भद्र-अभद्र सभी समान हैं। उन लोगोंके चले जानेपर मैंने पता लगाया तो मालूम हुआ कि कल सबेरे वे उस बेचारी नौ सालकी लड़कीको न-जाने किस अपरिचित घर-गृहस्थीमें घसीट ले जायँगे, फिर शायद कभी आने भी न देंगे। इन लोगोंके यहाँ कायदा ही यही है। बाप एक कोड़ी चार रुपयेमें लड़कीको आज बेच देगा। लड़की एक बार मायके भेज देनेका नाम तक भी वहाँ नहीं ले सकती। ओहो, लड़की बेचारी कितनी रोयेगी-बिलखेगी,—ब्याहका वह अभी जानती ही क्या है, बताओ?"

ऐसी दुर्घटनाएँ तो मैं जन्मसे ही देखता आ रहा हूँ, एक तरहसे इसका आदी भी हो गया हूँ,—अब तो क्षोभ प्रकट करनेकी भी प्रवृत्ति नहीं होती। लिहाजा जवाबमें मैं चुप ही बना रहा।

जवाब न पाकर उसने कहा, "हमारे देशमें छोटी-बड़ी सभी जातियोंमें ब्याह तो सिर्फ ब्याह ही नहीं है, बल्कि एक धर्म है,—इसीसे, नहीं तो—"

मैंने मनमें सोचा कि कह दूँ, 'इसे अगर धर्म ही समझ लिया है, तो फिर यह शिकायत ही किस बातकी? और जिस धर्म-कर्ममें मन प्रसन्न न होकर ग्लानिके भारसे काला ही होता रहता है, उसे धर्म समझकर अंगीकार ही कैसे किया जाता है?'

परन्तु मेरे कुछ कहनेके पहले ही राजलक्ष्मी स्वयं ही कह उठी, "पर यह सब विधि-विधान जो बना गये हैं, वे थे त्रिकालदर्शी ऋषि; शास्त्रके वाक्य झूठ भी नहीं हैं, अमंगलकारी भी नहीं,—हम लोग उसका क्या जानते हैं और कितना समझते हैं!"

बस, जो कहना चाहता था सो फिर नहीं कहा गया। इस संसारमें जो कुछ सोचने-विचारनेकी वस्तु थी, वह समस्त ही त्रिकालज्ञ ऋषिगण भूत, भविष्य और वर्तमान इन तीनों कालोंके लिए पहलेसे ही सोच-विचारकर स्थिर कर गये हैं, दुनियामें अब नये सिरेसे चिन्ता करनेको कुछ बाकी ही नहीं बचा! यह बात राजलक्ष्मीके मुँहसे कोई नई नहीं सुनी, और भी बहुतोंके मुँहसे बहुत बार सुनी है, और बराबर मैं चुप ही रहा हूँ। मैं जानता हूँ कि इसका जवाब देते ही आलोचना पहले तो गरम और फिर दूसरे ही क्षण व्यक्तिगत कलहमें परिणत होकर अत्यन्त कड़वी हो उठती है। त्रिकालदर्शियोंकी मैं अवज्ञा नहीं कर रहा हूँ, राजलक्ष्मीकी तरह मैं भी उनकी अत्यन्त भक्ति करता हूँ; मैं तो सिर्फ इतना ही सोचता हूँ कि वे दया करके अगर सिर्फ हमारे इस अँग्रेजी शासनकालके लिए न सोच जाते, तो अनेक दुरूह चिन्ताओंके दायित्वसे वे भी छुटकारा पा जाते और हम भी सचमुच ही आज जीवित रह सकते।

मैं पहले ही कह चुका हूँ कि राजलक्ष्मी मेरे मनकी बातोंको दर्पणवत् मानो स्पष्ट देख सकती है। कैसे देख सकती है, मैं नहीं जानता; परन्तु अभी इस अस्पष्ट दीपालोकमें मेरे चेहरेकी तरफ उसने देखा नहीं, फिर भी मानो मेरी

निभृत चिन्ताके ठीक द्वारपर ही उसने आघात किया। बोली, "तुम सोच रहे हो, 'यह बहुत ही ज्यादती है,—भविष्यके लिए विधि-विधान कोई पहलेसे ही निर्दिष्ट नहीं कर सकता।' मगर मैं कहती हूँ, कर सकता है। मैंने अपने गुरुदेवके श्रीमुखसे सुना है। यह काम अगर उनसे न होता, तो सजीव मन्त्रोंके कभी दर्शन भी न कर पाते। मैं पूछती हूँ, इस बातको तो मानते हो कि हमारे शास्त्रीय मंत्रोंमें प्राण हैं? वे सजीव हैं?"

मैंने कहा, "हाँ।"

राजलक्ष्मीने कहा, "तुम नहीं मान सकते हो, परन्तु फिर भी यह सत्य है। नहीं तो हमारे देशमें यह गुड्डा-गुड़ियोंका ब्याह ही संसारका सर्वश्रेष्ठ विवाह-बन्धन नहीं हो सकता! यह सभी तो उन्हीं सजीव मन्त्रोंके जोरसे होता है! उन्हीं ऋषियोंकी कृपासे! अवश्य ही, अनाचार और पाप और कहाँ नहीं हैं, सब जगह हैं, मगर हमारे इस देशके समान सतीत्व क्या तुम और कहीं भी दिखा सकते हो?"

मैंने कहा, "नहीं।" कारण, यह उसकी युक्ति नहीं, बल्कि विश्वास है। इतिहासका प्रश्न होता तो उसे दिखा देता कि इस पृथिवीपर सजीव मन्त्र-हीन और भी बहुत-से देश हैं, जहाँ सतीत्वका आदर्श आज भी ऐसा ही उच्च है। अभयाका उल्लेख करके कह सकता था कि अगर यही बात है तो तुम्हारे सजीव मंत्र स्त्री-पुरुष दोनोंको एक ही आदर्शमें क्यों नहीं बाँध सकते? मगर इन सब बातोंकी आवश्यकता न थी। मैं जानता था कि उसके चित्तकी धारा कुछ दिनोंसे किस दिशामें बह रही है।

दुष्कृतिकी वेदनाको वह अच्छी तरह समझती है। जिसे उसने अपने सम्पूर्ण हृदयसे प्यार किया है, उसे बिना कलुषित किये इस जीवनमें कैसे प्राप्त किया जाय, इस बातका उसे ओर-छोर ही नहीं मिल रहा है। उसका दुर्वश हृदय और प्रबुद्ध धर्माचरण,—ये दोनों [illegible] प्रचण्ड प्रवाह कैसे किस संगममें मिलकर, इस दुःखके जीवनमें तीर्थकी भाँति सुपवित्र हो उठेंगे, इस बातका उसे कोई किनारा ही नहीं दीखता। परन्तु मुझे दीखता है। अपनेको सम्पूर्ण रूपसे दान करनेके बादसे दूसरेके छिपे हुए मनस्तापपर प्रतिक्षण ही मेरी निगाह पड़ती रही है। माना कि बिलकुल स्पष्ट नहीं देख सकता, परन्तु फिर भी इतना तो देख ही लेता हूँ कि उसकी जिस दुर्मद कामनाने इतने दिनोंसे अत्युग्र

नशेकी भाँति उसके सम्पूर्ण मनको उतावला और उन्मत्त कर रक्खा था, वह मानो आज स्थिर होकर अपने सौभाग्यका, अपनी इस प्राप्तिका हिसाब, देखना चाहती है। इस हिसाबके आँकोंमें क्या है, मैं नहीं जानता, परन्तु शून्यके सिवा अगर और कुछ भी वह आज न देख सके तो किस तरह कहाँ जाकर फिर मैं अपने इस शत-छिन्न जीवन-जालकी गाँठें बाँधने बैठूँगा, यह चिन्ता मेरे अन्दर भी बहुत बार घूम-फिर गई है। सोचकर कुछ भी हाथ नहीं लगा, सिर्फ एक बातका निश्चय किये हुए हूँ कि हमेशासे जिस रास्ते चलता आया हूँ, जरूरत पड़नेपर फिर उसी रास्ते यात्रा शुरू कर दूँगा। अपने सुख और सुभीतेके लिए और किसीकी समस्याको जटिल न बनाऊँगा। परन्तु परमाश्चर्य-की बात यह हुई कि जिन मंत्रोंकी सजीवताकी आलोचनासे हम दोनोंमें एक ही क्षणमें क्रान्ति-सी मच गई, उन्हींके प्रसंगको लेकर पासहीके घरमें उस समय मल्ल-युद्ध हो रहा था और इस संवादसे हम दोनों ही नावाकिफ थे।

अकस्मात् पाँच-सात आदमी दो-तीन लालटेनें लिये और बहुत शोर-गुल मचाते हुए एकदम आँगनमें आ खड़े हुए और व्याकुल कंठसे पुकार उठे, "हुजूर! बाबू साहब!"

मैं घबराया हुआ बाहर आया और राजलक्ष्मी भी आश्चर्यके साथ उठकर मेरे पास आकर खड़ी हो गई। देखा कि सब मिलकर एक साथ सम-स्वरमें नालिश करना चाहते हैं। रतनके बार-बार डाँटनेपर भी अन्ततोगत्वा कोई भी चुप न रह सका। कुछ भी हो, मामला समझमें आ गया। कन्या-दान स्थगित हुआ पड़ा है; कारण, मंत्र-पाठमें गलती होनेकी वजहसे वर-पक्षके पुरोहितने कन्या-पक्षके पुरोहितके पुष्प-जल आदि उठाकर फेंक दिये हैं और उसका मुँह दबा रखा है। वास्तवमें, यह कैसा अत्याचार है। पुरोहित-सम्प्रदाय बहुत-से कीर्तिके काम किया करता है, परन्तु ऐसा मैंने कभी नहीं सुना कि दूसरे गाँवसे आकर जबरदस्ती अपने ही एक सम-व्यवसायीकी पूजाकी सामग्री फेंक दी गई हो और शारीरिक बल-प्रयोगसे उसका मुँह दबाकर स्वाधीन और सजीव मंत्रोच्चारणमें बाधा पहुँचाई गई हो। यह तो सरासर अत्याचार है।

राजलक्ष्मी क्या कहे, सहसा सोचकर कुछ तय न कर पाई। मगर रतन घरमें न जाने क्या कर रहा था, उसने बाहर निकलकर जोरसे गरजकर कहा, "तुम लोगोंके यहाँ पुरोहित कैसा रे?" यहाँ अर्थात् जमींदारीमें आकर रतन गाँववालोंसे तू-

लड़ाक और 'रे' करके बात करने लगा है, क्योंकि उसकी निगाहमें इससे अधिक सम्मानके लायक यहाँ कोई है ही नहीं। बोला, "डोम चमारोंका कोई ब्याहमें ब्याह है, जो पुरोहित चाहिए? यह क्या कोई ब्राह्मण-कायस्थोंके यहाँका ब्याह है जो ब्याह पढ़ाने ब्राह्मण-पुरोहित आएँगे?" यह कहकर वह बार बार मेरे और राजलक्ष्मीके मुँहकी ओर गर्वके साथ देखने लगा। यहाँ इस बातकी याद दिला देनी चाहिए कि रतन खुद जातका नाई है।

मधु डोम खुद नहीं आ सका था,—वह कन्या-दानके लिए बैठ चुका था, पर उसका सम्बन्धी आया था। उस आदमीने जो कुछ कहा उससे मालूम हुआ कि यद्यपि उन लोगोंमें ब्राह्मण नहीं आते, वे खुद ही अपने 'पुरोहित' हैं, तथापि, राखाल पंडित उनके लिए ब्राह्मणके ही समान है। कारण, उसके गलेमें जनेऊ है और वही उनके दसों कर्म कराता है। यहाँ तक कि वह इन लोगोंके हाथका पानी तक नहीं पीता। लिहाजा, इतनी ज़बरदस्त सात्त्विकताके बाद भी, अब कोई प्रतिवाद नहीं चल सकता। अतएव, असली और खालिस ब्राह्मणमें इसके बाद भी अगर कोई प्रभेद रह गया हो, तो वह बहुत ही मामूली-सा होगा।

खैर कुछ भी हो, इनकी व्याकुलता और पास ही ब्याहवाले घरकी प्रबल चीत्कारसे मुझे वहाँ जाना ही पड़ा। राजलक्ष्मीसे मैंने कहा, "तुम भी चलो न, घरमें अकेली क्या करोगी?"

राजलक्ष्मीने पहले तो सिर हिलाया, पर अन्तमें वह अपने कुतूहलको न रोक सकी और 'चलो' कहके मेरे साथ हो ली। वहाँ पहुँचकर देखा कि मधुके सम्बन्धीने बिलकुल अत्युक्ति नहीं की है। झगड़ा भयंकर रूप धारण करता जा रहा है। एक तरफ वर-पक्षके करीब तीस-बत्तीस आदमी हैं और दूसरी ओर कन्या-पक्षके भी लगभग उतने ही होंगे। बीचमें प्रबल और स्थूलकाय शिबू पंडित दुर्बल और क्षीणजीवी राखाल पण्डितके हाथ पकड़े खड़ा है। हम लोगोंको देखकर वह छोड़कर अलग हटके खड़ा हो गया। हम लोगोंने सम्मानके साथ एक चटाईपर बैठनेके बाद शिबू पण्डितसे इस अतर्कित आक्रमणका हेतु पूछा, तो उसने कहा, "हजूर, मन्तरका 'म' तो जानता नहीं यह बेटा, और फिर अपनेको कहता है, पण्डित हूँ! आज तो यह ब्याहहीका रेढ़ मार देता!" राखालने मुँह बिचकाकर प्रतिवाद किया, "हाँ, सो तो देता ही! पाँच पाँच गाँवमें सराध, ब्याह करा रहा हूँ, और मैं ही नहीं जानता मन्तर!"

मनमें सोचने लगा, यहाँ भी वही मंत्र है! घरमें तो माना कि, राजलक्ष्मीके सामने मौन रहकर ही तर्कका जवाब दिया है, मगर, यहाँ अगर वास्तवमें मध्यस्थता करनी पड़े तो आफतमें फँस जाऊँगा। अन्तमें बहुत वाद-वितण्डाके बाद तय हुआ कि राखाल-पण्डित ही मंत्र पढ़ेगा,—हाँ, अगर कहीं कुछ गलती होगी तो उसे शिबूके लिए आसन छोड़ देना पड़ेगा। राखाल राजी होकर पुरोहितके आसनपर बैठा और कन्याके पिताके हाथमें कुछ फूल देकर और वर-कन्याके दोनों हाथ एकत्र मिलाकर उसने जिन वैदिक मंत्रोंका पाठ किया, वे मुझे अब तक याद हैं। वे सजीव हैं या नहीं, सो मैं नहीं जानता, और मंत्रोंके विषयमें कोई ज्ञान न होनेपर भी मुझे सन्देह है कि वेदमें ठीक ये ही शब्द ऋषिगण नहीं छोड़ गये होंगे।

राखाल पण्डितने वरसे कहा, "बोलो, 'मधु डोमाय कन्याय नमः'।"

वरने दुहराया, "मधु डोमाय कन्याय नमः!"

राखालने कन्यासे कहा, "बोलो, 'भगवती डोमाय पुत्राय नमः'।"

बालिका वधूके उच्चारणमें कहीं त्रुटि न हो, इस खयालसे मधु उसकी तरफसे उच्चारण करना चाहता था, इतनेमें शिबू पण्डित दोनों हाथ ऊपरको उठाकर वज्र-सा गरजता और सबको चौंकाता हुआ बोल उठा, "यह मन्तर है ही नहीं! यह ब्याह ही नहीं हुआ!" पीछेसे कपड़ा खींचे जानेपर मुँह फेरकर देखा कि राजलक्ष्मी मुँहमें आँचल दबाकर जी-जानसे हँसी रोकनेकी कोशिश कर रही है और उपस्थित सभी कोई अत्यन्त उद्ग्रीव हो उठे हैं। राखाल पण्डितने लज्जित मुखसे कुछ कहना भी चाहा, मगर, उसकी बातपर किसीने ध्यान ही न दिया, सभी कोई एक स्वरसे शिबूसे विनय करने लगे, "पण्डितजी, मन्तर आप ही पढ़वा दीजिए, नहीं तो यह ब्याह ही न होगा,—सब मिट्टी हो जायगा। चौथाई दच्छिना उनको देकर बाकी बारह आना आप ही लेलीजिएगा, पंडितजी।"

शिबू पण्डितने तब उदासीनता दिखलाते हुए कहा, "राखालका इसमें दोष नहीं, असल मन्तर मेरे सिवा अपने इधर और कोई जानता ही नहीं। ज़्यादा दक्षिणा मैं नहीं चाहता, मैं यहाँसे मन्त्र पढ़ता हूँ, राखाल उनसे पढ़वावे।" यह कहकर वह शास्त्रज्ञ पुरोहित मन्त्रोच्चारण करने लगा और पराजित राखाल निरीह भलेमानसकी तरह वर-कन्यासे आवृत्ति कराने लगा।

शिबूने कहा, " बोलो, 'मधु, डोमाय कन्याय भुज्यपत्रं नमः' । "

वरने दुहराया, " मधु, डोमाय कन्याय भुज्यपत्रं नमः । "

शिबूने कहा, " मधु, अबकी बार तुम कहो, 'भगवती डोमाय पुत्राय सम्प्रदानं नमः' । "

कन्याके साथ मधुने इसीको दुहराया। सभी कोई नीरव स्थिर थे। दृश्य देखकर मालूम हुआ कि शिबूके समान शास्त्रज्ञ व्यक्तिने इसके पहले कभी इस प्रान्तमें पदार्पण ही नहीं किया।

शिबूने वरके हाथमें फूल देकर कहा, "विपिन, तुम कहो, 'जितने दिन जीवनं उतने दिन भात-कपड़ा प्रदानं स्वाहा'—"

विपिनने रुकते हुए बहुत कष्टसे और बहुत देरसे यह मंत्र उच्चारण किया।

शिबूने कहा, "वर-कन्या दोनों मिलकर कहो, 'युगल मिलनं नमः' । "

वर और कन्याकी तरफसे मधुने इसे दुहरा दिया। इसके बाद प्रबल हरिध्वनिके साथ वर-वधूको घरके भीतर गोदमें उठाकर ले जाया गया। मेरे चारों तरफ एक गूँज-सी उठ खड़ी हुई। सभी एक वाक्यसे स्वीकार करने लगे कि 'हाँ, आदमी है तो शास्त्रका पूरा जानकार! मन्तर-सा मन्तर पढ़ा है! राखाल पण्डित अब तक हम लोगोंको धोखा देकर ही खा-पी रहा था।'

जितनी देर वहाँ रहा, बराबर गम्भीर होकर बैठा रहा, और अन्त तक मैं उसी गम्भीरताको कायम रखता हुआ राजलक्ष्मीका हाथ पकड़कर घर लौट आया। वहाँ वह कैसे अपनेपर काबू रखके चुपचाप बैठी थी, मैं नहीं जानता; मगर घर आते ही उसने अपनी हँसीके प्रवाहको इस तरह छोड़ दिया कि दम घुटनेकी नौबत आ पहुँची। बिस्तरपर लोट-पोट होकर वह बार बार यही कहने लगी, "हाँ, एक सच्चा महामहोपाध्याय देखा! राखाल अब तक इन्हें ठगता-खाता था।"

पहले तो मैं भी अपनी हँसी रोक न सका, फिर बोला, " महामहोपाध्याय दोनों ही थे! फिर भी, इसी तरह तो अब तक इन लोगोंकी लड़कियोंकी मा और दादियोंके ब्याह होते आये हैं! राखालके मंत्र चाहे जैसे हों, पर शिबू पण्डितके मंत्र भी 'ऋषिरुवाच' नहीं मालूम होते। मगर फिर भी, इनका कोई भी मंत्र विफल नहीं गया! इनका जोड़ा हुआ विवाह-बन्धन तो आज तक वैसा ही दृढ़,—वैसा ही अटूट है!"

राजलक्ष्मी अपनी हँसीको दबाकर सहसा सीधी होकर बैठ गई, और एकटक चुपचाप मेरे मुँहकी ओर देखती हुई न-जाने क्या क्या सोचने लगी।

× × × ×

६

सबेरे उठकर सुना कि कुशारी महाशय मध्याह्न-भोजनका निमंत्रण दे गये हैं। मैं भी ठीक यही आशंका कर रहा था। मैंने पूछा, "मैं अकेला ही जाऊँगा क्या?"

राजलक्ष्मीने हँसकर कहा, "नहीं तो, मैं भी चलूँगी।"

"चलोगी?"

"चलूँगी क्यों नहीं!"

उसका यह निःसंकोच उत्तर सुनकर मैं अवाक् हो गया। खान-पान हिन्दू-धर्ममें क्या चीज़ है, और समाज उसपर कितना निर्भर है, राजलक्ष्मी इस बातको जानती है; और मैं भी यह जानता हूँ कि कितनी बड़ी निष्ठाके साथ वह इसे मानकर चलती है; फिर भी, उसका यह जवाब! कुशारी महाशयके विषयमें मैं ज्यादा कुछ नहीं जानता, पर बाहरसे उन्हें जितना देखा है उससे मालूम हुआ है कि वे आचार-परायण ब्राह्मण हैं। और यह भी निश्चित है कि राजलक्ष्मीके इतिहाससे वे वाकिफ नहीं हैं, उन्होंने तो सिर्फ मालिक समझकर ही निमंत्रण किया है। परन्तु, राजलक्ष्मी आज वहाँ जाकर कैसे क्या करेगी, मेरी कुछ समझमें ही न आया। और, मेरे प्रश्नको समझकर भी उसने जब कुछ नहीं कहा, तो इसीके भीतरके संकोचने मुझे भी निर्वाक् कर दिया।

यथासमय गो-यान आ पहुँचा। मैं तैयार होकर बाहर आया तो देखा कि राजलक्ष्मी गाड़ीके पास खड़ी है।

मैंने कहा, "चलोगी नहीं?"

उसने कहा, "चलनेहीके लिए तो खड़ी हूँ।" यह कहकर वह गाड़ीके भीतर जाकर बैठ गई।

रतन साथ जायगा, वह मेरे पीछे था। उसका चेहरा देखते ही मैं ताड़ गया कि वह मालिकिनकी साज-पोशाक देखकर अत्यन्त आश्चर्यान्वित हो गया है। मुझे भी आश्चर्य हुआ; परन्तु जैसे उसने प्रकट नहीं किया वैसे मैं भी चुप रह गया। घरपर वह कभी ज्यादा गहने नहीं पहिनती और कुछ दिनोंसे तो उसमें भी कमी होती जाती थी; परन्तु, आज देखा कि उसके बदनपर उसमेंसे भी लगभग कुछ नहीं है। जो हार साधारणतः रोज ही उसके गलेमें पड़ा

रहता है वह है और हाथोंमें एक-एक कड़ा। ठीक याद नहीं है, फिर भी इतना खयाल है कि कल रात तक जो चूड़ियाँ उसके हाथोंमें देखी थीं उन्हें भी आज उसने जान-बूझकर उतार दिया है। साड़ी भी बिलकुल मामूली पहिने थी, शायद नहाकर जो पहिनी थी वही होगी। गाड़ीमें बैठकर मैंने धीरेसे कहा, "एक-एक करके सभी कुछ छोड़ दिया मालूम होता है। सिर्फ एक मैं ही बाकी रह गया हूँ।"

राजलक्ष्मीने मेरे मुँहकी तरफ देखकर जरा हँसते हुए कहा, "ऐसा भी तो हो सकता है कि इस एकहीमें सब-कुछ रह गया है। इसीसे, जो बढ़ती था वही एक-एक करके झड़ता जा रहा है।" यह कहकर उसने पीछेकी तरफ मुँड़कर देखा कि रतन कहीं पास है या नहीं; उसके बाद उसने ऐसे धीमे और मृदु कंठसे कहा जिसे गाड़ीवान भी न सुन सके, "अच्छा तो है, ऐसा ही आशीर्वाद दो न तुम। तुमसे बड़ा तो और कुछ मेरे लिए है नहीं, तुम्हें भी जिनके बदलेमें आसानीसे दे सकूँ, मुझे वही आशीर्वाद दो।"

मैं चुप हो गया। बात एक ऐसी दिशामें चली गई कि उसका जवाब देना मेरे बूतेकी बात नहीं रही। वह भी और कुछ न कहकर, मोटा तकिया अपनी तरफ खींचकर, सिमटकर मेरे पैरोंके पास लेट गई। गंगामाटीसे पोड़ामाटी जानेका एक बिलकुल सीधा रास्ता भी है। सामनेके सूखे-पानीके नालेपर जो बाँसका कम-चौड़ा पुल है उसके ऊपर होकर जानेसे दस ही मिनटमें पहुँचा जा सकता है; मगर बैलगाड़ीसे बहुत-सा रास्ता घूमकर जाना पड़ता है और उसमें करीब दो घंटे लग जाते हैं। इस लम्बे रास्तेमें हम दोनोंमें फिर कोई बातचीत ही नहीं हुई। वह सिर्फ मेरे हाथको अपने गलेके पास खींचकर सोनेका बहाना किये चुपचाप पड़ी रही।

गाड़ी जब कुशारी महाशयके द्वारपर जाकर ठहरी तब दोपहर हो चुका था। घर-मालिक और उनकी गृहिणी दोनोंहीने एक साथ निकलकर हमें अभ्यर्थनाके साथ ग्रहण किया, और अत्यन्त सम्मानित अतिथि होनेके कारण ही शायद बाहरकी बैठकमें न बिठाकर वे एकदम भीतर ले गये। इसके सिवा, थोड़ी ही देरमें समझमें आ गया कि शहरोंसे दूर बसे हुए इन साधारण गावोंमें परदेका वैसा कठोर शासन प्रचलित नहीं है। कारण, हमारे शुभागमनका समाचार फैलते-न-फैलते ही अड़ोस-पड़ोसके बहुत-से कुशारी और उनकी

गृहिणीको यथाक्रमसे चचा, ताऊ, मौसी, चाची आदि प्रीतिपूर्ण और आत्मीय सम्बोधनोंसे प्रसन्न करते हुए एक-एक दो-दो करके प्रवेश करके तमाशा देखने लगे, और उनमें सभी अबला ही नहीं थीं। राजलक्ष्मीको घूँघट काढ़नेकी आदत नहीं थी, वह भी मेरी ही तरह सामनेके बरामदेमें एक आसनपर बैठी थी; इस अपरिचित रमणीके साक्षातसे भी उस अनाहूत दलने विशेष कोई संकोच अनुभव नहीं किया। हाँ, इतनी सौभाग्यकी बात हुई कि बातचीत करनेकी उत्सुकता बिलकुल ही उनके प्रति न होकर मेरे प्रति भी दिखाई जाने लगी। घर-मालिक अत्यन्त व्यस्त थे और उनकी गृहिणीकी भी वही दशा थी, सिर्फ उनकी विधवा लड़की ही अकेली राजलक्ष्मीके पास स्थिर बैठकर ताड़के पंखेसे धीरे धीरे बयार करने लगी। और, मैं कैसा हूँ, क्या बीमारी है, कितने दिन रहूँगा, जगह अच्छी मालूम होती है या नहीं, जमींदारीका काम खुद बिना देखे चोरी होती है या नहीं, इसका कोई नया बन्दोबस्त करनेकी जरूरत समझता हूँ या नहीं, इत्यादि अर्थ और व्यर्थ नाना प्रकारके प्रश्नोत्तरोंके बीच-बीचमेंसे मैं कुशारी महाशयके घरकी अवस्थाको कुछ पर्यवेक्षण करके देखने लगा। मकानमें बहुत-से कमरे हैं और सब मिट्टीके हैं; फिर भी मालूम हुआ कि काशीनाथ कुशारीकी अवस्था अच्छी तो है ही, और शायद विशेष तौरसे अच्छी है। प्रवेश करते समय बाहर, चण्डी-मण्डपके एक तरफ, एक धानका बखार देख आया था, भीतरके आँगनमें भी देखा कि वैसे और भी दो बखार मौजूद हैं। ठीक सामने ही, शायद रसोईघर था, उसके उत्तरमें एक छप्परके नीचे दो-तीन धान कूटनेकी ढेंकी हैं, मालूम होता है अभी अभी कुछ ही पहले उनका काम बन्द हुआ है। आँगनके एक तरफ एक जम्बीरी नीबूका पेड़ है, उसके नीचे धान उबालनेके कई एक चूल्हे हैं जो लिपे-पुते चमक रहे हैं, और उस साफ-सुथरे स्थानपर छायाके नीचे दो हृष्ट-पुष्ट गो-वत्स गरदन टेढ़ी किये आरामसे सो रहे हैं। उनकी माताएँ कहाँ हैं, आँखोंसे तो नहीं दिखाई दीं, पर यह साफ समझमें आ गया कि कुशारी-परिवारमें अन्नकी तरह दूधकी भी कोई कमी नहीं। दक्षिणके बरामदेमें, दीवारसे सटी हुई, छै-सात बड़ी बड़ी मिट्टीकी गागरें कुँडरियोंपर रखी हुई हैं। शायद गुड़की होंगी, या और किसी चीज़की होंगीं, मगर उनकी हिफाजतको देखते हुए यह नहीं मालूम हुआ कि वे रीती होंगी या उपेक्षाकी चीज़ हैं। कईएक

खूँटियोंसे ढेरा समेत सन और पटसनके गुच्छे बँधे हुए हैं,—लिहाजा इस बातका अनुमान करना भी असंगत नहीं होगा कि घरमें रस्सी-रस्सोंकी ज़रूरत पड़ती ही रहती है। कुशारी-गृहिणी, जहाँ तक सम्भव है, हमारे ही स्वागतके काममें अन्यत्र नियुक्त होंगी,—घर-मालिक भी एक बार दर्शन देकर अन्तर्धान हो गये थे; अब उन्होंने अकस्मात् व्यस्तताके साथ उपस्थित होकर राजलक्ष्मीको लक्ष्य करके दूसरी तरहसे अपनी अनुपस्थितिकी कैफियत देते हुए कहा, "बेटी, अब जाऊँ, जप-आह्निकसे छुट्टी पाकर इकट्ठा ही आकर बैठूँगा।"

पन्द्रह-सोलह वर्षका एक सुन्दर और सबल-काय लड़का आँगनके एक तरफ खड़ा खड़ा गंभीर मनोयोगके साथ हमारी बातें सुन रहा था; कुशारी महाशयकी उसपर निगाह पड़ते ही वे कह उठे, "बेटा हरी, नारायणका नैवेद्य शायद अब तक तैयार हो गया होगा, एक बार जाकर भोग तो दे आओ बेटा। बाकी पूजा-आह्निक खतम करनेमें मुझे देर न लगेगी।" फिर मेरी तरफ देखकर बोले, "आज झूठमूठको आप लोगोंको कष्ट दिया,—बड़ी अबेर हो गई।" कहते हुए, मेरे उत्तरकी प्रतीक्षा बिना किये ही, पलक मारनेके साथ खुद ही अदृश्य हो गये।

अब यथासमय, अर्थात् यथासमयके बहुत देर बाद, हमारे मध्याह्न-भोजनके लिए जगह ठीक करनेकी खबर आई। जानमें जान आई। सिर्फ ज़्यादा देर हो जानेके कारण नहीं, बल्कि अब आगन्तुकोंके प्रश्न-वाणोंका अन्त समझकर ही सुखकी साँस ली। वे, भोजनकी तैयारी होती देख, कमसे कम कुछ देरके लिए, मुझे छुटकारा देकर अपने अपने घर चले गये। मगर खाने बैठा मैं अकेला ही। कुशारी महाशय मेरे साथ न बैठे बल्कि सामने आकर बैठ गये। इसका कारण उन्होंने विनय और गौरवके साथ स्वयं ही व्यक्त किया। उपवीत धारण करनेके दिनसे लेकर आज तक भोजनके समय वे मौन ही रहते आये हैं, उस व्रतको आज तक भंग नहीं होने दिया; लिहाजा इस कामको वे अब भी अकेले ही एकान्त कोठरीमें सम्पन्न किया करते हैं। मैंने भी कोई आपत्ति नहीं की, और न इससे विस्मित ही हुआ। इसी तरह राजलक्ष्मीके विषयमें जब सुना कि आज उसके भी कोई व्रत है और आज वह परान्न ग्रहण न करेगी, तब भी मुझे आश्चर्य न हुआ, परन्तु इस छलके कारण मैं मन-ही-मन क्षुब्ध हो उठा और इसकी क्या जरूरत थी, कुछ न समझ सका। परन्तु राजलक्ष्मीने मेरे मनकी बात फौरन

ताड़ते हुए कहा, "इसके लिए तुम रंज मत करो, अच्छी तरह खा लो। मैं तो आज खाऊँगी नहीं, ये लोग सभी जानते हैं।"

मैंने कहा, "और, मैं ही नहीं जानता। लेकिन, अगर यही बात थी तो तकलीफ उठाकर आनेकी क्या ज़रूरत थी?"

इसका जवाब राजलक्ष्मीने नहीं दिया, बल्कि कुशारी-गृहिणीने दिया। वे बोलीं, "यह तकलीफ मैंने ही मंजूर करवाई है बेटा। ये यहाँ न खायँगी सो मैं जानती थी; फिर भी जिनकी कृपासे हमारा पेट पलता है, उनके पाँवोंकी धूल घरमें पड़े, इस लोभको मैं नहीं सम्हाल सकी। क्यों बेटी, है न ठीक?" यह कहकर उन्होंने राजलक्ष्मीके मुँहकी तरफ देखा। राजलक्ष्मीने कहा, "इसका जवाब आज न दूँगी मा, और किसी दिन दूँगी।" यों कहकर वह हँसने लगी।

परन्तु मैं अत्यन्त आश्चर्य-चकित होकर कुशारी-गृहिणीके मुँहकी ओर देखने लगा। गँवई-गाँवमें, खासकर ऐसे सुदूर गाँवमें, किसी स्त्रीके मुँहसे इस तरहकी सहज-सुन्दर-स्वाभाविक बातें सुननेकी मैंने कल्पना भी न की थी। और कभी स्वप्नमें यह बात भी न सोची थी कि अब भी, इस गँवई-गाँवमें भी, इससे बढ़कर एक और बहुत आश्चर्य-जनक नारीका परिचय मिलना बाकी था। मेरे भोजन परोसनेका भार अपनी विधवा कन्यापर सौंपकर कुशारी-गृहिणी पंखा हाथमें लिये मेरे सामने आकर बैठी थीं। शायद उमरमें मुझसे बहुत बड़ी होनेके कारण ही माथेपर पल्लेके सिवा उनके मुँहपर किसी तरहका परदा नहीं था। वह सुन्दर था या असुन्दर, मुझे कुछ मालूम नहीं; सिर्फ इतना ही मालूम हुआ कि वह साधारण भारतीय माताके समान स्नेह और करुणासे परिपूर्ण था। दरवाजेके पास कुशारीजी खड़े थे, बाहरसे उनकी लड़कीने पुकारकर कहा, "बाबूजी, तुम्हारे लिए थाली परोस दी है।" अबेर बहुत हो चुकी थी, और इसी खबरके लिए ही शायद वे साग्रह प्रतीक्षा कर रहे थे। फिर भी, एक बार बाहर और एक बार मेरी तरफ देखते हुए बोले, "अभी जरा ठहर जा बिटिया, इनको जीम लेने दे।"

गृहिणीने उसी दम बाधा देते हुए कहा, "नहीं, तुम जाओ, झूठमूठको सब बिगाड़ो मत। ठंडा हो जानेपर तुम नहीं खा सकोगे, मैं जानती हूँ।"

कुशारीजीको संकोच हो रहा था, बोले, "बिगड़ेगा क्या,—ये जीम चुकें, बस।"

गृहिणीने कहा, " मेरे रहते भी अगर खिलानेमें कसर रह जायगी तो तुम्हारे खड़े रहनेपर भी वह पूरी नहीं हो सकेगी। तुम जाओ,—क्यों बेटा, ठीक है न ?" यह कहती हुई वे मेरी ओर देखकर हँसीं। मैंने भी हँसते हुए कहा, " बल्कि और कमी रह जायगी। आप जाइए कुशारीजी, ऐसे भूखे खड़े देखते रहनेसे दोनोंमेंसे किसीको भी फायदा न होगा।" इसपर वे और कुछ न कहकर धीरेसे चले गये, परन्तु मालूम हुआ, वे सम्मानित अतिथिके भोजनके समय पास न रहनेके संकोचको साथ ही लेते गये। लेकिन, कुछ ही देर बाद मुझसे यह छिपा न रहा कि वह मेरी ज़बर्दस्त भूल थी। उनके चले जानेपर उनकी गृहिणीने कहा, " निरामिष अरवा चावलका भात खाते हैं; ठंडा हो जानेपर फिर खा ही नहीं सकते, इसीसे जबरदस्ती भेज दिया है। लेकिन यह भी एक बात है बेटा, कि जो अन्नदाता हैं, उनसे पहले अपने मुँहमें अन्न देना बड़ा कठिन है।"

उनकी इस बातसे मन-ही-मन मुझे शर्म मालूम होने लगी, मैंने कहा, " अन्नदाता मैं नहीं हूँ। और, यह अगर सच भी हो, तो वह इतना कम है कि इतना छूट जाय तो शायद आपको मालूम भी न हो।"

कुशारी-गृहिणी कुछ देर तक चुप रहीं। मालूम हुआ कि उनका चेहरा धीरे धीरे अत्यन्त म्लान-सा हो गया। उसके बाद वे बोलीं, " तुम्हारी बात बिलकुल झूठ नहीं है बेटा, भगवानने हमें कुछ कम नहीं दिया है, पर अब मालूम होता है कि इतना अगर वे न भी देते तो, शायद, इससे उनकी ज्यादा दया ही प्रकट होती। घरमें यही तो एक विधवा लड़की है,—क्या होगा हमारे इन भर-भर कोठी धानोंका, भर-कढ़ाई दूध और गुड़की गागरोंका ? इन सबको भोगनेवाले जो थे वे तो हमें छोड़कर ही चले गये हैं।"

बात ऐसी कोई विशेष नहीं थी, पर कहते कहते ही उनकी आँखें डबडबा आईं और ओठ काँपने लगे। मैं समझ गया, उनके इन शब्दोंमें बहुत-सी गंभीर वेदना छिपी हुई है। सोचा, शायद इनके किसी योग्य लड़केकी मृत्यु हो गई है और जिस लड़केको कुछ पहले देखा था, उसका अवलम्बन लेकर हताश्वास माता-पिताको कुछ सान्त्वना नहीं मिल रही है। मैं चुप बना रहा, और राजलक्ष्मी भी कोई बात न कहकर उनका हाथ अपने हाथमें लेकर मेरी ही तरह चुपचाप बैठी रही। परन्तु, हमारी भूल भंग हुई उनकी बादकी बातोंसे।

उन्होंने अपने आपको संवरण करके फिर कहा, " पर हमारी तरह उनके भी तो तुम्हीं लोग अन्नदाता हो। उनसे कहा कि मालिकसे अपने दुःख-कष्टकी बात कहनेमें कोई शरमकी बात नहीं, अपने बेटे और बहूको निमंत्रणका बहाना करके एक बार घर ले आओ, मैं उनके सामने रो-धोकर देखूँ, शायद वे इसका कुछ किनारा कर सकें।" यह कहकर उन्होंने आँचल उठाकर आँसू पोंछे। समस्या अत्यन्त जटिल हो उठी। राजलक्ष्मीके मुँहकी ओर देखा तो वह भी मेरी ही तरह संशयमें पड़ी हुई दिखाई दी। परन्तु पहलेकी तरह अब भी दोनों जने मौन बने रहे। कुशारी-गृहिणी अब अपने दुःखका इतिहास धीरे धीरे व्यक्त करने लगीं। अन्त तक सुनकर बहुत देर तक किसीके मुँहसे कोई बात न निकली; परन्तु, इस विषयमें कोई सन्देह न रहा कि इस बातके कहनेके लिए ठीक इतनी ही भूमिकाकी जरूरत थी। राजलक्ष्मी परान्न ग्रहण न करेगी, यह सुनकर भी मध्याह्न-भोजनके निमंत्रणसे शुरू करके कुशारीजीको अन्यत्र भेज देनेकी व्यवस्था तक कुछ भी बाद नहीं दिया जा सकता था। खैर कुछ भी हो, कुशारी-गृहिणीने अपने आँसू और अस्फुट वाक्योंसे ठीक कितना व्यक्त किया, यह नहीं जानता, और एक पक्षकी बात सुनकर इस बातका भी निश्चय करना कठिन है कि उसमें कितना सत्य है; परन्तु हमारी मध्यस्थतामें जिस समस्याको हल करानेके लिए आज उन्होंने इस तरह सानुरोध निवेदन किया, वह जितनी आश्चर्यकारी थी उतनी ही मधुर और कठोर भी।

कुशारी-गृहिणीने जिस दुःखका वर्णन किया, उसका कुछ सार यह है कि घरमें खाने-पहरनेका काफी आराम होनेपर भी उनके लिए घर-गृहस्थी ही सिर्फ विष-तुल्य हो गई हो सो बात नहीं, बल्कि दुनियाके आगे उनके लिए मुँह दिखाना भी दूभर हो गया है। और इन सब दुःखोंकी जड़ है उनकी एकमात्र देवरानी सुनन्दा। यद्यपि उनके देवर यदुनाथ न्यायरत्नने भी उनके साथ कम शत्रुता नहीं की है, परन्तु असल मुकद्दमा है उसी देवरानीके विरुद्ध। और, वह विद्रोही सुनन्दा और उसका पति जब कि फिलहाल हमारी ही रिआया है तब, हमें जिस तरह बने, उन्हें काबूमें लाना ही पड़ेगा। संक्षेपमें बात इस तरह है—उनके ससुर और सासका जब स्वर्गवास हुआ था, तब वे इस घरकी बहू थीं। यदुनाथ तब सिर्फ छे-सात सालका लड़का था। उस लड़केको पाल-पोसकर बड़ा करनेका

भार उन्हींपर पड़ा और उस दिन तक वे उस भारको बराबर सम्हालती आई हैं। पैतृक सम्पत्तिमें था सिर्फ एक मिट्टीका घर, दो-तीन बीघा धर्मादेकी जमीन और कुछ जजमानोंके घर। सिर्फ इसीपर निर्भर रहके उनके पतिके संसार-समुद्रमें तैरना पड़ा है। आज यह जो बढ़वारी और सुख-स्वच्छन्दता दिख रही है, यह सब-कुछ उनके पतिके हाथकी कमाईका फल है। देवरजी जरा भी किसी तरहका सहारा नहीं देते हैं, और न उनसे किसी तरहके सहारेके लिए कभी प्रार्थना ही की जाती है।

मैंने कहा, "अब शायद वे बहुत ज़्यादेका दावा करते होंगे?

कुशारी-गृहिणीने गरदन हिलाते हुए कहा, "दावा कैसा बेटा, यह सब-कुछ उसीका तो है। सब-कुछ वही तो लेता, अगर सुनन्दा बीचमें पड़कर मेरी सोनेकी गृहस्थी मिट्टीमें न मिला देती।"

मैं बातको ठीक-से समझ न सका, मैंने आश्चर्यके साथ पूछा, "पर आपका यह लड़का—"

वे पहले कुछ समझ न सकीं, पीछे समझनेपर बोलीं, "उस विजयकी बात कह रहे हो? वह तो हमारा लड़का नहीं है बेटा, वह तो एक विद्यार्थी है। देवरजीके टोलमें* पढ़ता था, अब भी वहीं पढ़ता है, सिर्फ रहता हमारे यहाँ है।" यों कहकर वे विजयके सम्बन्धमें हमारी अज्ञताको दूर करती हुई कहने लगीं, "कितने कष्टसे मैंने देवरको पाल-पोसकर आदमी बनाया सो सिर्फ भगवान ही जानते हैं, और मुहल्लेके लोग भी कुछ-कुछ जानते हैं। पर खुद वह आज सब-कुछ भूल गया, सिर्फ हम ही लोग नहीं भूल सके हैं।" इतना कहकर फिर उन्होंने आँखोंके किनारे पोंछते हुए कहा, "पर उन सब बातोंको जाने दो बेटा, बहुत बातें हैं। मैंने देवरका जनेऊ करवाया, उन्होंने पढ़नेके लिए उसे मिहिरपुरके शिबू तर्कालंकारके टोलमें भिजवाया। बेटा, लड़केको छोड़कर रहा नहीं गया तो मैं खुद जाकर कितने ही दिन मिहिरपुर रह आई,—सो भी आज उसे याद नहीं आता। जाने दो,—इस तरह कितने वर्ष बीत गये, कोई ठीक है भला। देवरकी पढ़ाई पूरी हुई, वे उसे गृहस्थ बनानेके लिए लड़कीकी तलाशमें घूमा किये; इतनेमें, न कुछ कहना न सुनना, अचानक एक दिन शिबू तर्कालंकारकी लड़की सुनन्दासे ब्याह करके आप बहू

*पुराने ढंगकी संस्कृतकी घरेलू पाठशाला।

घर ले आया। मुझसे न कहा तो न सही, पर ऐसे भइया तकसे कोई राय न ली।"

मैंने धीरेसे पूछा, "राय न लेनेका क्या कोई खास कारण था?"

गृहिणीने कहा, "था क्यों नहीं। वे हमारे ठीक बराबरीके न थे, कुल, शील और सम्मानमें भी बहुत छोटे थे। उन्हें बड़ा गुस्सा आया, दुःख और लज्जाके मारे शायद महीने-भर तो किसीसे बातचीत तक नहीं की; पर मैं गुस्सा नहीं हुई। सुनन्दाका मुँह देखकर मैं पहलेसे ही मानो पिघल-सी गई। उसपर जब सुना कि उसकी मा मर गई है और बाप उसे देवरके हाथ सौंपकर खुद संन्यासी होकर निकल गये हैं, तो उस नन्हीं-सी बहूको पाकर मुझे कितनी खुशी हुई सो मैं मुँहकी बातोंसे नहीं समझा सकती। पर वह किसी दिन इस तरह बदला लेगी, सो कौन जानता था।" इतना कहकर सहसा वे सुपुक-सुपुककर रोने लगीं। समझ गया कि यहींपर व्यथा अत्यन्त तीव्र हो उठी है; मगर फिर भी चुप रहा। राजलक्ष्मी भी अब तक कुछ नहीं बोली थी; उसने धीरेसे पूछा, "अब वे कहाँ रहते हैं?"

जवाबमें उन्होंने गरदन हिलाकर जो कुछ व्यक्त किया, उससे समझमें आया कि अब तक वे इसी गाँवमें बने हुए हैं। इसके बाद फिर बहुत देर तक कोई बातचीत नहीं हुई, उनके स्वस्थ होनेमें जरा ज्यादा समय लगा। परन्तु असली चीज़ तो हम लोग अभी तक ठीक तौरसे समझ ही न सके। इधर मेरा खाना भी करीब करीब खतम हो आया था, कारण, रोना-धोना चलते रहनेपर भी इस विषयमें कोई विशेष विघ्न नहीं हुआ। सहसा वे आँखें पोंछकर सीधी होकर बैठीं और मेरी थालीकी तरफ देखकर अनुतप्त कंठसे कह उठीं, "रहने दो बेटा, सारे दुःखोंकी कहानी सुनाने लगूँ तो खतम भी न होगी, और तुम लोगोंसे धीरजके साथ सुनते भी न बनेगा। मेरी सोनेकी गृहस्थी जिन लोगोंने आँखोंसे देखी है, सिर्फ वे ही जानते हैं कि छोटी बहू मेरा कैसा सत्यानास कर गई है। सिर्फ उसी लंका-काण्डको संक्षेपमें तुम लोगोंसे कहूँगी।" इसके बाद वे कहने लगीं—

"जिस ज़ायदादपर हमारा सब कुछ निर्भर है, वह किसी जमानेमें एक जुलाहेकी थी। साल-भर पहले अचानक एक दिन सबेरे उसकी विधवा स्त्री अपने नाबालिग लड़केको साथ लेकर हमारे घर आ धमकी। गुस्सेमें न जाने क्या क्या कह गई, उसका कोई ठीक नहीं, हो सकता है कि उसका कुछ भी सच न हो या

सब-कुछ झूठ ही हो,—छोटी बहू नहाकर जा रही थी रसोई-घरमें, उसकी बातें सुनकर उसे तो जैसे काठ मार गया। उसके चले जानेपर भी, बहूका वह भाव दूर न हुआ। मैंने बुलाकर कहा, 'सुनन्दा, खड़ी क्यों है, अबेर नहीं हो रही है?' पर, जवाबके लिए उसके मुँहकी तरफ देखकर मुझे डर-सा लगने लगा! उसकी आँखोंकी चितवनमें न जाने कैसी आगकी-सी चिनगारियाँ निकल रही थीं, उसका साँवला चेहरा एकदम फक पड़ गया,—बिलकुल सफेद। जुलाहेकी बहूकी एक एक बातने मानो उसके सारे शरीरसे एक-एक बूँद खून सोख लिया। उसने उस वक्त कोई जवाब नहीं दिया, वह धीरेसे मेरे पास आकर बैठ गई और फिर बोली, 'जीजी, जुलाहेकी बहूको उसके मालिककी ज़ायदाद तुम वापस न कर दोगी? उसके नन्हें-से नाबालिग बच्चेको तुम उसकी सारी सम्पत्तिसे वंचित रखकर जिन्दगी-भरके लिए राहका भिखारी बना दोगी?'

"मैं तो दंग रह गई, मैंने कहा, 'सुनो इसकी बातें जरा। कन्हाई बसाककी सारी ज़ायदाद कर्जके मारे बिक जानेपर, इन्होंने उसे खरीद लिया है। भला, अपनी खरीदी हुई जायदादको कौन किसी गैरके लिए छोड़ देता है छोटी बहू?'

"छोटी बहूने कहा, 'पर जेठजीके पास इतना रुपया आया कहाँसे?'

"मैंने गुस्सेमें आकर कह दिया, 'सो पूछ जाकर अपने जेठजीसे,—जिन्होंने जायदाद खरीदी है।' यह कहकर मैं पूजा-आह्निक करने चली गई।"

राजलक्ष्मीने कहा, "बात तो ठीक है। जो जायदाद नीलामपर चढ़कर नीलाम हो चुकी, उसे फेर देनेके लिए छोटी बहू कह कैसे सकती थी?"

कुशारी-गृहिणीने कहा, "बताओ तो बेटी।"

परन्तु यह कहते हुए भी उनके चेहरेपर लज्जाकी मानो एक काली छाया-सी पड़ गई। बोलीं, "लेकिन, ठीक नीलाम होकर नहीं बिकी थी न, इसीसे। हम लोग थे उसके पुरोहित-वंशके। कन्हाई बसाक मरते समय इन्हींपर सब भार दे गया था। पर तब तो ये जानते न थे कि वह अपने पीछे दुनिया-भरका कर्जा भी छोड़ गया है।"

उनकी बात सुनकर राजलक्ष्मी और मैं दोनों ही एकाएक मानो स्तब्ध-से हो गये। न-जाने कैसी एक गन्दी चीज़ने मेरे मनके भीतरी भागको मलिन कर डाला। कुशारी-गृहिणी शायद इस बातको ताड़ न सकीं। बोलीं, "जप-आह्निक सब खतम करके दो-ढाई घण्टे बाद आकर देखती हूँ तो सुनन्दा वहीं ठीक उसी

तरह स्थिर होकर बैठी है। उसने कहींको भी एक पैर तक नहीं बढ़ाया। वे कचहरीका काम निबटाकर आ ही रहे होंगे, देवर बिनूको लेकर मेला देखने गये थे, उनके लौटनेमें भी देर नहीं थी, विजय नहाने गया था, अभी तुरत आकर पूजा करने बैठेगा,—अब तो मेरे गुस्सेकी सीमा न रही, मैंने कहा, 'तू क्या रसोईमें आज घुसेगी ही नहीं? उस बदमाश जुलाहेकी बहूकी गढ़ी-गुढ़ी बातें ही बैठी बैठी सोचती रहेगी?'

"सुनन्दाने मुँह उठाकर कहा, 'नहीं जीजी, वह जायदाद अपनी नहीं है, उसे अगर तुम न लौटा दोगी तो मैं अब रसोईमें घुसूँगी ही नहीं। उस नाबालिग लड़केके मुँहका कौर छीनकर अपने पति-पुत्रको भी न खिला सकूँगी, और ठाकुरजीका भोग भी मुझसे न बनाया जायगा।' यह कहकर वह अपनी कोठरीमें चली गई। सुनन्दाको मैं पहिचानती थी। यह भी जानती थी कि वह झूठ नहीं बोलती, और उसने अपने अध्यापक संन्यासी बापके पास रहकर बचपनसे ही बहुत-से शास्त्र पढ़े हैं; पर वह औरत होकर ऐसी पत्थरकी तरह कठोर होगी, सो मैं तब तक न जानती थी। मैं झटपट रसोई बनानेमें लग गई। मर्द सब घर लौटे, तो उनके खाते समय सुनन्दा दरवाजेके पास आकर खड़ी हो गई। मैंने दूरसे हाथ जोड़कर कहा, 'सुनन्दा, जरा क्षमा कर, उनका खाना हो जाने दे।' पर उसने जरा-सा भी अनुरोध नहीं माना। कुरला करके खाने बैठ ही रहे थे कि पूछ बैठी, 'जुलाहेकी जायदाद क्या आपने रुपये देकर खरीदी है? बाबूजी तो कुछ छोड़ नहीं गये थे, यह तो आप ही लोगोंके मुँहसे बहुत बार सुना है, तो फिर इतने रुपये मिले कहाँसे?'

"जो कभी बात नहीं करती, उसके मुँहसे यह प्रश्न सुनकर वे तो एकदम हतबुद्धि-से हो गये, उसके बाद बोले, 'इन सब बातोंके मानी क्या बेटी?'

"सुनन्दाने कहा, 'इसके मानी अगर कोई जानता है तो आप ही जानते हैं। आज जुलाहेकी बहू अपने लड़केको लेकर यहाँ आई थी, उसकी सब बातोंको आपके सामने दुहराना व्यर्थ है,—आपसे कोई बात छिपी नहीं है। यह जायदाद जिसकी है उसे अगर आप वापस नहीं देंगे, तो, मैं जीते जी इस महापापके अन्नका एक दाना भी अपने पति-पुत्रको न खिला सकूँगी।'

"मुझे तो ऐसा मालूम हुआ, बेटा, कि या तो मैं सपना देख रही हूँ या सुनन्दापर भूत सवार हो गया है। जिस जेठजीकी वह देवताकी तरह भक्ति करती है, उन्हींसे ऐसी बात! वे भी कुछ देर तक बिजलीके मारे-से बैठे रहे; उसके बाद जल-भुनकर बोले, 'जायदाद पापकी हो या पुण्यकी, वह मेरी है, तुम्हारे पति-पुत्रकी नहीं। तुम्हें न रुचे तो तुम लोग और कहीं जाकर रह सकते हो! पर बहू, अबतक तो मैं तुम्हें सर्वगुणमयी समझता था, ऐसा कभी नहीं सोचा था।' इतना कहकर वे थाली छोड़कर चले गये। उस दिन, फिर दिन-भर किसीके मुँहमें दाना-पानी नहीं गया। रोती हुई मैं देवरके पास पहुँची; बोली, 'लालाजी, तुम्हें तो मैंने गोदमें लेकर पाला-पोसा है,—उसका तुम यह बदला चुका रहे हो!' लालाजीकी आँखोंमें आँसू डबडबा आये, बोले, 'भाभी, तुम्हीं मेरी माँ हो, और भइया भी मेरे लिए पिताके समान हैं। पर तुम लोगोंसे भी एक बड़ी चीज है, वह है धर्म। मेरा विश्वास है कि सुनन्दाने एक भी बात अनुचित नहीं कही है। साहजीने संन्यास लेते समय उसे आशीर्वाद देते हुए कहा था कि बेटी, धर्मको अगर सचमुच चाहती हो, तो वही तुम्हें राह दिखाता हुआ ले आयगा। मैं उसे इतनी-सी उमरसे पहचानता हूँ भाभी, उसने हरगिज गलती नहीं की।'

"हाय री जली तकदीर! उसे भी कलमुँहीने भीतर-ही-भीतर इतना बस कर रक्खा था! अब मेरी आँखें खुलीं। उस दिन भादोंकी सँकराँत थी, आकाशमें बादल हो रहे थे, रह-रहकर झरझर पानी बरस रहा था, मगर अभागीने एक रातके लिए भी हमारी बात न रक्खी, लड़केका हाथ पकड़कर घरसे निकल गई। मेरे ससुरके जमानेकी एक रिआया थी जिसे मरे आज करीब दो साल हो गये, उसीके टूटे-फूटे खंडहर घरमें एक कोठरी किसी तरह खड़ी थी; सियार-कुत्ते साँप-मेढ़कोंके साथ उसीमें जाकर, ऐसे बुरे दिनोंमें, वह रहने लगी। मैंने आँगनके कीच-मिट्टी-पानीमें लोटते हुए रो-रोकर कहा, 'सत्यानासिन, यही अगर तेरे मनमें थी, तो इस घरमें तू आई ही क्यों थी? बिनू तकको ले आई, तूने क्या ससुर-कुलका नाम तक दुनियासे मिटा देनेकी प्रतिज्ञा की है?' मगर उसने कोई जवाब नहीं दिया। मैंने फिर कहा, 'खायगी क्या?' जवाब मिला, 'ससुरजी जो तीन बीघा ब्रह्मोत्तर जमीन छोड़

गये हैं, उसमेंसे आधी हमारी है ! ' उसकी बात सुनकर मेरी तो तबीयत हुई कि सिर पटककर मर जाऊँ। मैंने कहा, " अभागी, उससे तो एक दिनकी भी गुजर न होगी। तुम लोग, माना, कि बिना खाये ही मर सकते हो, पर मेरा बिनू ? ' बोली, ' एक बार कन्हाई बसाकके लड़केके बारेमें तो सोच देखो जीजी। उसकी तरह एक छाक खाकर भी अगर बिनू जिन्दा रहे तो बहुत है। '

" आखिर वे चले गये। सारा घर मानो हाहाकार करके रोने लगा। उस रातको न तो घरमें बत्ती जली न चूल्हा सुलगा; उन्होंने है सो बहुत रात बीते घर लौट कर सारी रात उसी खूँटीके सहारे बैठे बिता दी। शायद बिनू मेरा न सोया होगा, शायद बच्चा मेरा भूखके मारे तड़फड़ाता होगा; सबेरा होते ही राखालके हाथ गाय और बछिया भिजवा दी पर उस राक्षसीने लौटा दी और कहला भेजा, ' बिनूको मैं दूध नहीं पिलाना चाहती, उसे बिना दूधके ही जिन्दा रहनेकी शिक्षा देना चाहती हूँ। '

राजलक्ष्मीके मुँहसे सिर्फ एक गहरी साँस निकली। गृहिणीकी उस दिनकी सारी वेदना और अपमानकी स्मृतिने उबलकर उनका कंठ रोक दिया, और मेरे हाथका दाल-भात सूखकर बिलकुल खाल-सा हो गया। कुशारीजीकी खड़ाऊँकी आवाज़ सुनाई दी,—उनका मध्याह्न-भोजन समाप्त हो गया। मुझे आशा है कि उनके मौन-व्रतने अक्षुण्ण-अटूट रहकर उनके सात्त्विक आहारमें किसी तरह विघ्न उपस्थित नहीं किया होगा। मगर, इधरकी बात जानते थे, इस कारण ही शायद वे हमारी खोज लेने फिर नहीं आये। गृहिणीने आँखें पोंछकर, नाक और गला साफ करते हुए, कहा " उसके बाद गाँव-गाँवमें, मुहल्ले-मुहल्लेमें, लोगोंके मुँह कितनी बदनामी और कितनी फजीहत हुई बेटा, सो तुम्हें क्या बताऊँ। उन्होंने कहा, 'दो-चार दिन जाने दो, तकलीफोंके मारे आप ही लौट आएगी।' मैंने कहा, ' उसे पहचानते नहीं तुम, टूट जाएगी पर नवेगी नहीं। ' और हुआ भी वही। एकके बाद एक आज आठ महीने बीत गये, पर उसे न नवा सके। वे मारे फिकरके छिप-छिपकर रोते रोते सूखके लकड़ी होने लगे। बच्चा उनको प्राणोंसे भी बढ़कर था और देवरजीको तो लड़केसे भी ज़्यादा प्यार करते थे। फिर सहा न गया तो आखिर लोगोंके मुँहसे कहलवाया कि जुलाहेकी बहूका इन्तजाम किये देता हूँ जिससे उन लोगोंको तकलीफ न हो। पर उस

सत्यानासिनने जवाब दिया कि ' उनका जो कुछ न्यायतः पावना है, सबका सब जब दे देंगे, तभी घरमें घुसूँगी। उसका एक रत्ती-भर भी बाकी रहेगा, तो नहीं। यानी इसके मानी यह हुए कि हम अपनी निश्चित मौत बुला लें।"

मैंने गिलासके पानीमें हाथ डुबोते हुए पूछा, "अब उनकी गुजर कैसे होती है?"

कुशारी-पत्नीने कातर होकर कहा, "इसका जवाब मुझसे न पूछो बेटा! इसका जिकर कोई छेड़ता है तो कानोंमें उँगली देकर भाग जाती हूँ,—ऐसा मालूम होता है जैसे मेरा दम घुट रहा हो। इन आठ महीनोंमें इस घरमें मछली तक नहीं आई, दूध-घीकी कढ़ाई तक नहीं चढ़ी। सारे ही घरपर मानो वह मर्मान्तिक अभिशाप रखके चली गई है।" यह कहकर वे चुप हो गईं, और बहुत देर तक हम तीनों जने स्तब्ध होकर नीरव बैठे रहे।

घंटे-भर बाद हम जब गाड़ीपर सवार हुए तो कुशारी-गृहिणीने सजल कंठसे राजलक्ष्मीके कानमें कहा, "बेटी, वे तुम्हारी ही रिआया हैं। मेरे ससुरकी छोड़ी हुई जमीनपर ही उनकी गुजर होती है, वह तुम्हारे ही गाँवमें है,—गंगामाटीमें।"

राजलक्ष्मीने सिर हिलाकर कहा, "अच्छा।"

गाड़ी चल देनेपर उन्होंने फिर कहा, "बेटी, तुम्हारे घरसे ही दिखाई देता है उनका घर। नालेके इधर जो टूटा-फूटा घर दिखाई देता है, वही।"

राजलक्ष्मीने उसी तरह फिर गरदन हिलाकर कहा, "अच्छी बात है।"

गाड़ी धीमी चालसे आगे बढ़ने लगी। बहुत देर तक मैंने कोई बात नहीं की। राजलक्ष्मीकी ओर देखा तो जान पड़ा वह अन्यमनस्क होकर कुछ सोच रही है। उसका ध्यान भंग करते हुए मैंने कहा, "लक्ष्मी, जिसके लोभ नहीं, जो कुछ चाहता नहीं, उसे सहायता करने जाना,—इससे बढ़कर संसारमें और कोई विडम्बना नहीं।"

राजलक्ष्मीने मेरे मुँहकी ओर देखकर कुछ मुसकराते हुए कहा, "सो मैं जानती हूँ। तुमसे मैंने और कुछ लिया हो चाहे न लिया हो, इस बातकी शिक्षा तो ले ली है।"

❦ ❦ ❦

७

अपने आपको विश्लेषण करने बैठता हूँ तो देखता हूँ, जिन थोड़ेसे नारी-चरित्रोंने मेरे मनपर गहरी रेखा अंकित की है, उनमेंसे एक है वही कुशारी महाशयके छोटे भाईकी विद्रोहिनी बहू सुनन्दा। अपने इस सुदीर्घ जीवनमें सुनन्दाको मैं आजतक नहीं भूला हूँ। राजलक्ष्मी मनुष्यको इतनी जल्दी और इतनी आसानीसे अपना ले सकती है कि सुनन्दाने यदि उस दिन मुझे 'भइया' कहकर पुकारा, तो उसमें आश्चर्य करनेकी कोई बात ही नहीं। अन्यथा, ऐसी आश्चर्यजनक लड़कीको जाननेका मौका मुझे कभी न मिलता। अध्यापक यदुनाथ तर्कालंकारका टूटा-फूटा घर, हमारे घरके पश्चिमकी तरफ, मैदानके एक किनारेपर है; आँखें उठाते ही सीधी उसीपर निगाह पड़ती है, और यहाँ जबसे आया तभीसे बराबर पड़ती रही है। मुझे सिर्फ इतना ही नहीं मालूम था कि वहाँ एक विद्रोहिनी अपने पति-पुत्रके साथ रहा करती है। बाँसका पुल पार होकर ऊसर मैदानसे करीब दस मिनटका रास्ता है; बीचमें पेड़-पौधे कुछ भी नहीं हैं, बहुत दूरतक बिलकुल साफ दिखाई देता है। आज सबेरे बिछौनेसे उठते ही खिड़कीमेंसे जब उस जीर्ण और श्रीहीन खंडहरपर मेरी निगाह पड़ी तो बहुत देरतक मैं एक तरहकी अभूतपूर्व व्यथा और आग्रहके साथ उस तरफ देखता रहा। और जिस बातको बहुत बार बहुत कारणोंसे देखकर भी बार बार भूल गया हूँ, उसी बातकी याद उठ खड़ी हुई कि संसारमें किसी विषयमें सिर्फ उसके बाहरी रूपको देखकर कुछ भी नहीं कहा जा सकता। कौन कह सकता है कि वह सामने दिखाई देनेवाला टूटा-फूटा घर सियार-कुत्तोंका आश्रय-स्थल नहीं है? इस बातका कौन अनुमान कर सकता है कि उस खंडहरमें कुमार-रघु-शकुन्तला-मेघदूतका पठन-पाठन हुआ करता है, और उसमें एक नवीन अध्यापक छात्रोंसे परिवेष्टित होकर स्मृति और न्यायकी मीमांसा और विचारमें निमग्न रहा करते हैं! कौन जानेगा कि उसीमें इस देशकी एक तरुणी नारी अपने धर्म और न्यायकी मर्यादा रखनेके लिए, अपनी इच्छासे, अशेष दुःखोंका भार वहन कर रही है!

दक्षिणके जंगलेसे मकानके भीतर निगाह गई तो मालूम हुआ कि आँगनमें कुछ हो रहा है,—रतन आपत्ति कर रहा है और राजलक्ष्मी उसका खंडन कर रही है। पर गलेकी आवाज़ उसीकी कुछ ज़ोरकी थी। मैं उठकर वहाँ

पहुँचा तो वह कुछ शरमा-सी गई। बोली, "नींद उचट गई मालूम होती है? सो तो उचटेगी ही। रतन, तू अपने गलेको जरा धीमा कर भइया, नहीं तो मुझसे तो अब पेश नहीं पाया जाता।"

इस तरहके उलहनों और शिकायतोंसे सिर्फ रतन ही अकेला नहीं, घर-भरके हम सभी अभ्यस्त हो गये थे; इसलिए, वह भी जैसे चुप रह गया मैं भी वैसे ही कुछ नहीं बोला। देखा कि एक बड़ी टोकनीमें चावल-दाल-घी-तेल आदि, तथा दूसरी एक छोटी डलियामें नाना प्रकारकी भोज्य सामग्री सजाई गई है। मालूम होता है कि इनका परिमाण और इनके ढोनेकी शक्ति-सामर्थ्यके विषयमें ही रतन प्रतिवाद कर रहा था। ठीक यही बात निकली। राजलक्ष्मीने मुझे मध्यस्थ मानते हुए कहा, "सुनो इसकी बात। इससे इतना-सा बोझ ले जाते न बनेगा! इतना तो मैं भी ले जा सकती हूँ, रतन!" यह कहते हुए उसने खुद झुककर उस बोझेको आसानीसे उठा लिया।

वास्तवमें, बोझके लिहाजसे एक आदमीके लिए, और तो क्या रतनके लिए भी, उसका ले जाना कोई कठिन न था; पर कठिन थी एक दूसरी बात। इससे रतनकी इज्जतमें बट्टा जो लगता! पर शरमके मारे मालिकके सामने उस बातको वह मंजूर नहीं कर सकता था। मैं उसका चेहरा देखते ही बड़ी आसानीसे ताड़ गया। मैंने हँसकर कहा, "तुम्हारे यहाँ तो काफी आदमी हैं, रिआयाकी भी कमी नहीं,—उन्हींमेंसे किसीको भेज दो। रतन, न हो तो, उसके साथ साथ चला जायगा रीते-हाथ।"

रतन नीचेको निगाह किये खड़ा रहा। राजलक्ष्मी एक बार मेरी तरफ और एक बार उसकी तरफ देखकर हँस पड़ी; बोली, "अभागा आध घंटे तक झगड़ता तो रहा, पर मुँहसे बोला नहीं कि मा, ये सब छोटे काम रतन-बाबू नहीं कर सकेंगे! जा, किसीको बुला ला।"

उसके चले जानेपर मैंने पूछा, "सबेरे उठते ही यह सब क्या शुरू कर दिया?"

राजलक्ष्मीने कहा, "आदमीके खानेकी चीजें सबेरे ही भेजी जाती हैं।"

"मगर भेजी कहाँ जा रही हैं? और उसकी वजह भी तो मालूम हो?"

राजलक्ष्मीने कहा, "वजह! आदमी खाएँगे, और जा रही हैं ब्राह्मणके घर।"

मैंने कहा, "वह ब्राह्मण है कौन?"

राजलक्ष्मी मुसकराती हुई कुछ देर चुप रही, शायद सोचने लगी कि नाम बतावे या नहीं। फिर बोली, "देकर कहना नहीं चाहिए, पुण्य घट जाता है। जाओ, तुम हाथ-मुँह धोकर कपड़े बदल आओ,—तुम्हारी चाय तैयार है।"

मैं, फिर कोई प्रश्न बिना किये ही, बाहर चला गया।

लगभग दस बजे होंगे। बाहरके कमरेमें तख्तपर बैठा, कोई काम न होनेसे, एक पुराने साप्ताहिक पत्रका विज्ञापन पढ़ रहा था। इतनेमें एक अपरिचित कण्ठ-स्वरका संभाषण सुनकर मुँह उठाकर देखा तो आगन्तुक अपरिचित ही मालूम हुए। वे बोले, "नमस्कार बाबूजी।"

मैंने हाथ उठाकर प्रति नमस्कार किया और कहा, "बैठिए।"

ब्राह्मणका अत्यन्त दीन वेश था, पैरोंमें जूता नदारद, बदनपर कुरता तक नहीं, सिर्फ एक मैली चादर-सी पड़ी थी। धोती भी वैसी ही मलिन थी, ऊपरसे दो-तीन जगह गाँठें बँधी हुई। गँवई-गाँवके भद्र पुरुषके आच्छादनकी दीनता कोई आश्चर्यकी वस्तु नहीं है, और सिर्फ उसीपरसे उसकी गार्हस्थिक अवस्थाका अनुमान नहीं किया जा सकता। खैर, वे सामने बाँसके मूढ़ेपर बैठ गये और बोले, "मैं आपकी एक गरीब प्रजा हूँ,—इसके पहले ही मुझे आना चाहिए था,—बड़ी गलती हो गई।"

मुझे जमींदार समझकर यदि कोई मिलने आता तो मैं भीतर ही भीतर जैसे लज्जित होता था वैसे झुँझला भी उठता था। खासकर ये लोग ऐसी ऐसी प्रार्थनाएँ और शिकायतें लाया करते हैं, और ऐसे ऐसे बद्धमूल उत्पातों और अत्याचारोंका प्रतीकार चाहते हैं कि जिनपर हमारा कोई काबू ही नहीं चलता। यही कारण है कि इन महाशयपर भी मैं प्रसन्न न हो सका। मैंने कहा, "देरसे आनेके कारण आप दुःखित न हों; कारण, बिलकुल ही न आते तो भी मैं आपकी तरफसे कुछ खयाल न करता,—ऐसा मेरा स्वभाव ही नहीं। मगर आपको जरूरत क्या है?"

ब्राह्मणने लज्जित होकर कहा, "असमयमें आकर शायद आपके काममें विघ्न पहुँचाया है, मैं फिर किसी दिन आऊँगा।" यह कहते हुए वे उठ खड़े हुए।

मैंने झुँझलाकर कहा, "मुझसे आपको काम क्या था, बताइए तो सही?"

मेरी नाराजगीको वे आसानीसे ताड़ गये। जरा मौन रहकर शान्त भावसे

बोले, "मैं मामूली आदमी हूँ, जरूरत भी मामूली-सी है। माजीने मुझे याद किया था, शायद उन्हें कुछ ज़रूरत हो,—मुझे तो कुछ चाहिए नहीं।"

जवाब कठोर था, पर था सत्य। और, मेरे प्रश्नके देखते हुए असंगत भी न था। पर यहाँ आनेके बादसे ऐसा जवाब सुनानेवाला कोई आदमी ही नहीं मिला, इसीसे ब्राह्मणके उत्तरसे सिर्फ आश्चर्य ही नहीं हुआ बल्कि क्रोध भी आ गया। यों मेरा मिजाज रूखा नहीं है। और कहीं होता तो शायद कुछ खयाल भी न करता। परन्तु ऐश्वर्यकी क्षमता इतनी भद्दी चीज़ है कि, दूसरेसे उधार ली हुई होनेपर भी, उसके अपव्यवहारके प्रलोभनको आदमी आसानीसे नहीं टाल सकता। अतएव, अपेक्षाकृत बहुत ही ज्यादा रूढ़ उत्तर मेरी ज़बानपर आ गया, परन्तु उसकी तेजी निकलनेके पहले ही देखा कि बगलका दरवाजा खुल गया है और राजलक्ष्मी अपना पूजा-पाठ अधूरा छोड़कर उठ आई है। वह दूरसे बड़े विनयके साथ प्रणाम करके बोली, "अभीसे मत चले जाइए, बैठिए आप। आपसे मुझे अभी बहुत-सी बातें करनी हैं।"

ब्राह्मणने पुनः आसन ग्रहण किया और कहा, "माजी, आपने तो मेरे घरकी बहुत दिनोंकी दुश्चिन्ता दूर कर दी, उससे तो हम लोगोंकी लगभग पन्द्रह दिनकी गुजर चल जायगी। पर अभी तो कोई समय नहीं है, व्रत-नियम-पर्व कुछ भी तो नहीं है। ब्राह्मणी आश्चर्यमें आकर यही पूछ रही थी—"

राजलक्ष्मीने हँसते हुए कहा, "आपकी ब्राह्मणीने सिर्फ व्रत-नियमोंके ही दिन-वार सीख रखे हैं, मगर पड़ोसियोंकी भेंट-सौगात लेनेके दिन-वारका विचार वे अभी मुझसे सीख जायँ, कह दीजिएगा।"

ब्राह्मणने कहा, "तो इतना बड़ा सीधा क्या—"

प्रश्नको वे खतम न कर सके, या फिर जान-बूझकर ही नहीं करना चाहा; परन्तु मैंने इस दाम्भिक ब्राह्मणके अनुक्त वाक्यका मर्म सम्पूर्ण रूपसे हृदयंगम कर लिया। फिर भी भय हुआ कि कहीं मेरी ही तरह बिना समझे राजलक्ष्मीको भी कोई कड़ी बात न सुननी पड़े। इस आदमीका, एक तरफका परिचय अभी तक अज्ञात रहनेपर भी, दूसरी तरफका परिचय पहले ही मिल चुका था, लिहाजा ऐसी इच्छा न हुई कि मेरे ही सामने फिर उसकी पुनरावृत्ति हो। साहसकी बात सिर्फ इतनी ही थी कि राजलक्ष्मीको कभी कोई आमने-सामने निरुत्तर नहीं कर सकता था। ठीक हुआ भी यही। इस

अ-सुहावने प्रश्नसे भी वह बाल बाल बचकर सफा निकल गई, बोली, "तर्कालंकार महाशय, सुना है आपकी ब्राह्मणी बहुत ही गुस्सैल हैं,—बिना निमंत्रणके पहुँच जानेसे शायद खफा हो जायँगी, नहीं तो इस बातका जवाब उन्हें ही जाकर दे आती।"

अब समझमें आया कि ये ही यदुनाथ कुशारी हैं। अध्यापक आदमी ठहरे, प्रियतमाके मिजाजका उल्लेख होते ही अपना मिजाज खो बैठे; 'हाः हाः' करके उच्च हास्यसे घर भर दिया और प्रसन्न चित्तसे बोले, "नहीं मा, गुस्सैल क्यों होने लगी, बहुत ही सीधी-सादी स्त्री है। गरीब ठहरे, आप जायँगीं तो हम आपके योग्य सम्मान नहीं कर सकेंगे, इसलिए वही आ जायगी। समय मिलते ही मैं ही उसे अपने साथ ले आऊँगा।"

राजलक्ष्मीने पूछा, "तर्कालंकार महाशय, आपके छात्र कितने हैं?"

कुशारीजीने कहा, "पाँच हैं। इस देशमें अधिक छात्र मिलते ही कहाँ हैं,—अध्यापना तो केवल नाममात्र है।"

"सभीको क्या खाने-पहरनेको देना पड़ता है?"

"नहीं। विजय तो भइयाके यहाँ रहता है, और दूसरा एक गाँवहीका रहनेवाला है; सिर्फ तीन छात्र मेरे यहाँ रहते हैं।"

राजलक्ष्मी ज़रा चुप रहकर अपूर्व स्निग्ध कंठसे बोली, "ऐसे दुःसमयमें यह तो सहज बात नहीं है तर्कालंकार महाशय!"

ठीक इसी कंठ-स्वरकी आवश्यकता थी। नहीं तो अभिमानी अध्यापकके गरम होकर उठ जानेमें कोई कसर नहीं थी। पर मजा यह हुआ कि अबकी बार उनका मन कतई उधर होकर निकला ही नहीं। बड़ी आसानीसे उन्होंने घरके दुःख और दैन्यको स्वीकार कर लिया। कहने लगे, "कैसे गुजर होती है सो हम ही दोनों प्राणी जानते हैं। परन्तु फिर भी तो भगवानका उदयास्त रुका नहीं रहता, मा। इसके सिवा उपाय ही क्या है अपने हाथमें? अध्ययन-अध्यापन तो ब्राह्मणका कर्तव्य ठहरा। आचार्यदेवसे जो कुछ मिला है, वह तो केवल धरोहर है, जो किसी न किसी दिन तो लौटा ही देनी पड़ेगी।" जरा ठहरकर फिर बोले, "किसी समय इसका भार था भू-स्वामियोंपर, परन्तु अब तो ज़माना ही बदल गया है। वह अधिकार भी उन्हें नहीं है और वह दायित्व भी चला गया है। प्रजाका रक्त-शोषण करनेके सिवा उनके करने लायक

और कोई काम ही नहीं। अब तो उन्हें भूस्वामी समझनेमें भी घृणा मालूम होती है।"

राजलक्ष्मीने हँसकर कहा, "मगर, उनमेंसे अगर कोई कुछ प्रायश्चित्त करना चाहता है तो उसमें तो आप अड़ंगा न डालें!"

कुशारी लज्जित होकर खुद भी हँस दिये, बोले, "अन्यमनस्क हो जानेसे आपकी बातका मुझे खयाल ही नहीं रहा। पर अड़ंगा क्यों डालने लगा? सचमुच ही तो यह आप लोगोंका कर्तव्य है।"

राजलक्ष्मीने कहा, "हम लोग पूजा-अर्चा करती हैं, पर एक भी मंत्र शायद शुद्ध नहीं बोल सकतीं,—लेकिन, यह भी आपका कर्तव्य है, सो भी याद दिलाये देती हूँ।"

कुशारी महाशयने हँसते हुए कहा, "सोई होगा, मा।" यह कहकर वे अबेरका खयाल करके उठ खड़े हुए। राजलक्ष्मीने उन्हें जमीनसे माथा टेककर प्रणाम किया और जाते समय मैंने भी किसी तरह एक नमस्कार करके छुट्टी पा ली।

उनके चले जानेपर राजलक्ष्मीने कहा, "आज तुम्हें जरा सिदौसे नहा-खा लेना पड़ेगा।"

"क्यों भला?"

"दोपहरको सुनन्दाके घर चलना पड़ेगा।"

मैंने कुछ विस्मित होकर कहा, "मगर मुझे क्यों? तुम्हारा वाहन रतन तो है?"

राजलक्ष्मीने माला हिलाते हुए कहा, "उस वाहनसे अब गुजर न होगी। तुम्हें साथ वगैर लिये अब मैं एक कदम भी कहींको नहीं हिलनेकी।"

मैंने कहा, "अच्छा, सो ही सही।"

८

पहले ही कह चुका हूँ कि एक दिन सुनन्दाने मुझे 'भइया' कहके पुकारा था, और उसे मैंने परम-आत्मीयके समान अपने बहुत नजदीक पाया था। इसका पूरा विवरण यदि विस्तृत रूपसे न भी कहा जाय तो भी उसपर विश्वास न

करनेका कोई कारण नहीं। मगर, हमारे प्रथम परिचयके इतिहासपर विश्वास दिलाना शायद कठिन होगा। बहुत-से तो यह सोचेंगे कि यह बड़ी अद्भुत बात है; और शायद, बहुतसे सिर हिलाकर कहेंगे कि ये सब बातें सिर्फ कहानियोंमें ही चल सकती हैं। वे कहेंगे, 'हम भी बंगाली हैं, बंगालमें ही इतने बड़े हुए हैं, पर साधारण गृहस्थ-घरमें ऐसा होता है, यह तो कभी नहीं देखा!' हो सकता है; परन्तु, इसके उत्तरमें मैं सिर्फ इतना ही कह सकता हूँ कि मैं भी इसी देशमें इतना बड़ा हुआ हूँ, और एकसे ज्यादा सुनन्दा इस देशमें मेरे भी देखनेमें नहीं आई। फिर भी यह सत्य है।

राजलक्ष्मी भीतर चली गई, मैं उन लोगोंकी टूटी-फूटी दीवारके पास खड़ा होकर खोज रहा था कि कहीं ज़रा छाया मिले। इतनेमें एक सत्रह-अठारह सालका लड़का आकर बोला, "आइए, भीतर चलिए।"

"तर्कालंकारजी कहाँ हैं? आराम कर रहे होंगे शायद?"

"जी नहीं, वे पैंठ करने गये हैं। माताजी हैं, आइए।" कहता हुआ वह आगे हो लिया, और काफी दुविधाके साथ मैं उसके पीछे पीछे चला। कभी किसी जमानेमें इस मकानमें सदर दरवाज़ा भी शायद कहीं रहा होगा, पर फिलहाल उसका निशान तक बिला गया है। अतएव, भूतपूर्व ढेंकी-शालामें होकर अन्तःपुरमें प्रवेश करके निश्चय ही मैंने उसकी मर्यादा उलंघन नहीं की। प्रांगणमें उपस्थित होकर सुनन्दाको देखा। उन्नीस-बीस वर्षकी एक साँवली लड़की है, इस मकानकी तरह ही बिलकुल आभरण-शून्य। सामनेके कम-चौड़े बरामदेके एक किनारे बैठी मूड़ी* भून रही थी,—और शायद राजलक्ष्मीके आगमनके साथ ही साथ उठकर खड़ी हो गई है,—उसने मेरे लिए एक फटा-पुराना कम्बलका आसन बिछाकर नमस्कार किया। कहा, "बैठिए।" लड़केसे कहा, "अजय, चूल्हेमें आग है, जरा तमाखू तो सुलगा दे बेटा।" राजलक्ष्मी बिना आसनके पहले ही बैठ गई थी, उसकी तरफ देखकर जरा मुसकराते हुए कहा, "लेकिन आपको पान न दे सकूँगी। पान घरमें हैं ही नहीं।"

हम लोग कौन हैं, अजय शायद इस बातको जान गया था। वह अपनी गुरु-पत्नीकी बातपर सहसा अत्यन्त व्यस्त होकर बोल उठा, "नहीं हैं? तो पान शायद आज अचानक निबट गये होंगे मा?"

---

* चावलको नमकीन पानीमें भिगोकर बालूमें भूना हुआ चबैना।

सुनन्दाने उसके मुँहकी तरफ क्षण-भर मुसकराकर देखते हुए कहा, "पान आज अचानक निबट गये हैं, या, सिर्फ एक दिन ही अचानक आ गये थे, अजय ?" यह कहकर वह खिलखिलाकर हँस पड़ी, फिर राजलक्ष्मीसे बोली, "उस रविवारको छोटे महन्त महाराजके आनेकी बात थी, इसीसे एक पैसेके पान मँगाये गये थे,—उसे हो गये करीब दस दिन। यह बात है ! इसीसे हमारा अजय एकदम आश्चर्य-चकित हो गया है, पान चटसे निबट कैसे गये ?" इतना कहकर वह फिर हँस दी। अजय अत्यन्त अप्रतिभ होकर कहने लगा, "वाह, ऐसा है ! सो होने दो न,—निबट जाने दो,—

राजलक्ष्मीने हँसते हुए सदय कंठसे कहा, "बात तो ठीक ही है, बहिन, आखिर यह ठहरे मर्द, ये कैसे जान सकते हैं कि तुम्हारी गिरस्तीमें कौन-सी चीज निबट गई है !"

अजय कमसे कम एक आदमीको अपने अनुकूल पाकर कहने लगा, "देखिए ! देखिए तो ! और माताजी सोचती हैं कि— "

सुनन्दाने उसी तरह हँसते हुए कहा, "हाँ, मा सोचती तो है ही ! नहीं जीजी, हमारा अजय ही घरकी 'गृहिणी' है,—यह सब जानता है। सिर्फ यह एक बात मंजूर नहीं कर सकता कि यहाँ कोई तकलीफ है और बाबूगीरी तक नदारद है !"

"क्यों नहीं कर सकता ! वाह,—बाबूगीरी क्या अच्छी चीज़ है ! वह तो हमारे—" कहते कहते वह रुक गया और बात बिना खतम किये ही शायद मेरे लिए तमाखू सुलगाने बाहर चला गया।

सुनन्दाने कहा, "बाम्हन-पंडितके घर अकेली हर्र ही काफी है, ढूँढ़नेपर शायद एक-आध सुपारी भी मिल सकती है,—अच्छा, देखती हूँ— " यह कहकर वह जाना ही चाहती थी कि राजलक्ष्मीने सहसा उसका आँचल पकड़कर कहा, "हर्र मुझसे नहीं बरदाश्त होगी, बहिन, सुपारीकी भी जरूरत नहीं। तुम मेरे पास जरा स्थिर होकर बैठो, दो-चार बातें तो कर लूँ।" यह कहकर उसने एक प्रकारसे जबर्दस्ती ही उसे अपने पास बिठा लिया।

आतिथ्यके दायित्वसे छुटकारा पाकर क्षण-भरके लिए दोनों ही नीरव हो रहीं। इस अवसर पर मैंने और एक बार सुनन्दाको नये सिरेसे देख लिया। पहले तो यह मालूम हुआ कि वास्तवमें यह 'दरिद्रता' वस्तु संसारमें कितनी अर्थहीन और

निस्सार प्रमाणित हो सकती है, यदि इसे कोई स्वीकार न करे तो ! यह जो हमारे साधारण बंगाली घरकी साधारण नारी है, बाहरसे जिसमें कोई भी विशेषता नहीं दीखती, न तो रूप है और न गहने कपड़े ही । इस टूटे-फूटे घरमें जिधर देखो उधर ही केवल अभाव और तंगीहीकी छाया दिखाई देती है,—परन्तु फिर भी वह सिर्फ छाया ही है, उससे बढ़कर और कुछ भी नहीं, यह बात भी मानो साथ ही साथ दृष्टिसे छिपी नहीं रहती । अभावके दुःखको मानो इस नारीने सिर्फ अपनी आँखोंके इशारेसे मना करके दूर रख छोड़ा है,—इतनी उसमें हिम्मत ही नहीं कि वह जबरदस्ती भीतर घुस सके । और तारीफ यह कि कुछ महीने पहले ही इसके सब कुछ विद्यमान था,—घर-द्वार, स्वजन-परिजन, नौकर-चाकर,—हालत अच्छी थी, किसी बातकी कमी नहीं थी,—सिर्फ एक कठोर अन्यायका ततोधिक प्रतिवाद करनेके लिए अपना सब कुछ छोड़ आई है,—जीर्ण वस्त्रकी तरह सब त्याग आई है। मन स्थिर करनेमें उसे एक पहर भी समय नहीं लगा । उसपर भी मज़ा यह कि कहीं भी किसी अंगमें इसके कठोरताका नामो-निशान तक नहीं !

राजलक्ष्मीने सहसा मेरी ओर मुखातिब होकर कहा, "मैं समझती थी कि सुनन्दा उमरमें खूब बड़ी होगी । पर हे भगवान्, यह तो अभी बिलकुल लड़की ही है !"

अजय शायद अपने गुरुदेवके हुक्केपर ही तमाखू भरके ला रहा था, सुनन्दाने उसकी ओर इशारा करते हुए कहा, "लड़की कैसे हूँ ! जिसके इतने इतने बड़े लड़के हों, उसकी उमर कहीं कम होती होगी !" यह कहकर वह हँसने लगी। खासी स्वच्छन्द सरल हँसी थी उसकी । अजयके यह पूछनेपर कि मैं खुद ही चूल्हेसे आग ले लूँ या नहीं, उसने परिहास करते हुए कहा, "मालूम नहीं किस जातके लड़के हो तुम बेटा, जरूरत नहीं तुम्हें चूल्हा छूनेकी ।" असलमें बात यह थी कि जलता अंगारा चूल्हेमेंसे निकालना कठिन होनेके कारण उसने खुद ही जाकर आँच उठाके चिलमपर रख दी, और चेहरेपर वैसी ही हँसी लिये हुए वह फिर अपनी जगहपर आकर बैठ गई । साधारण ग्राम्य-रमणी-सुलभ हँसी-मसखरीसे लेकर बातचीत और आचरण तक कहीं किसी बातमें उसकी कोई विशेषता नहीं पकड़ी जा सकती, फिर भी, इतने ही अरसेमें जो मामूली-सा परिचय मुझे मिला है वह कितना असाधारण है ! इस असाधारणताका हेतु दूसरे ही

क्षणमें हम दोनोंके समक्ष परिस्फुट हो उठा। अजयने मेरे हाथमें हुक्का देते हुए कहा, " माताजी, तो अब उसे उठाकर रख दूँ ?"

सुनन्दाके इशारेसे अनुमति देनेपर उसकी दृष्टि अनुसरण करके देखा कि पास ही एक लकड़ीके पीढ़ेपर बड़ी भारी एक मोटी पोथी इधर-उधर बिखरी पड़ी है। अब तक किसीने भी उसे नहीं देखा था; अजयने उसके पन्ने सम्हालते हुए क्षुण्ण स्वरसे कहा, " माताजी, 'उत्पत्ति-प्रकरण' तो आज भी समाप्त नहीं हुआ, कब तक होगा ! अब पूरा नहीं होनेका।"

राजलक्ष्मीने पूछा, " वह कौन-सी पोथी है, अजय ?"

" योगवासिष्ठः।"

" तुम्हारी मा मूड़ी भून रही थीं और तुम सुना रहे थे ?"

" नहीं, मैं तो माताजीसे पढ़ता हूँ।"

अजयके इस सरल और संक्षिप्त उत्तरसे सुनन्दा सहसा मानो लज्जासे सुर्ख़ हो उठी, झटपट बोल उठी, " पढ़ाने लायक विद्या तो उसकी माके पास खाक-धूल भी नहीं है। नहीं जीजी, दोपहरको अकेली घरका काम करती रहती हूँ, वे तो अकसर रहते नहीं, ये लड़के पुस्तक लेकर कौन क्या क्या बकते चले जाते हैं, उसका तीन-चौथाई तो मैं सुन ही नहीं पाती। इसको क्या है, जो मनमें आया सो कह दिया।"

अजयने अपने 'योगवासिष्ठ'को लेकर प्रस्थान किया, और राजलक्ष्मी गम्भीर मुँह बनाये स्थिर होकर बैठी रही। कुछ ही क्षण बाद सहसा एक गहरी साँस लेकर बोली, " आस-ही-पास कहीं मेरा घर होता तो मैं भी तुम्हारी चेली हो जाती, बहिन। एक तो कुछ जानती ही नहीं, उसपर आह्निक-पूजाके शब्दोंको भी ठीक तौरसे बोल सकती होऊँ, सो भी नहीं।"

मंत्रोच्चारणके सम्बन्धमें उसका सन्दिग्ध मानसिक खेद मैंने बहुत बार सुना है, इसका मुझे अभ्यास हो गया था, परन्तु सुनन्दाने पहले-पहल सुनकर भी कुछ नहीं कहा, वह सिर्फ़ ज़रा-सा मुसकराकर रह गई। मालूम नहीं उसने क्या समझा। शायद सोचा कि जिसका तात्पर्य नहीं समझती, प्रयोग नहीं जानती, उसके सिर्फ अर्थहीन पाठ-मात्रकी शुद्धतापर इतनी दृष्टि क्यों ? हो सकता है कि यह उसके लिए भी कोई नई बात न हो, अपने यहाँके साधारण हिन्दू घरानेकी स्त्रियोंके मुँहसे ऐसी सकरुण लोभ और मोहकी बातें उसने बहुत बार सुनी हैं,—

इसका उत्तर देना या प्रतिवाद करना भी वह आवश्यक नहीं समझती। अथवा यह सब कुछ भी न हो सिर्फ स्वाभाविक विनय-वश ही मौन रही हो। फिर भी, इतना तो बिना खयाल किये रहा ही न गया कि उसने अगर आज अपने इस अपरिचित अतिथिको निहायत ही साधारण औरतोंके समान छोटा करके ही देखा हो तो फिर एक दिन उसे अत्यन्त अनुतापके साथ अपना मत बदलनेकी जरूरत पड़ेगी।

राजलक्ष्मीने पलक मारते ही अपनेको सम्हाल लिया। मैं जानता हूँ कि कोई मुँह खोलता है तो वह उसके मनकी बात जान जाती है। फिर वह मंत्र-तंत्रके किनारे होकर भी नहीं निकली। और थोड़ी देर बाद ही उसने खालिस घर-गृहस्थीकी और घरेलू बातें शुरू कर दीं। उन दोनोंके मृदु कंठकी सम्पूर्ण आलोचना न तो मेरे कानोंमें ही गई, और न मैंने उधर कान लगानेकी कोशिश ही की। बल्कि, मैं तो तर्कालंकारके हुक्केमें अजयदत्तकी सूखी और सुकठोर तमाखूको खतम करनेमें ही जी-जानसे जुट गया।

दोनों रमणियाँ मिलकर अस्पष्ट मृदु भावसे संसार-यात्राके विषयमें किस जटिल तत्त्वका समाधान करने लगीं, सो वे ही जानें, किन्तु, उनके पास हुक्का हाथमें लिये बैठे बैठे मुझे मालूम हुआ कि आज सहसा एक कठिन प्रश्नका उत्तर मिल गया। हमारे विरुद्ध एक भद्दी शिकायत है कि स्त्रियोंको हमने हीन बना रक्खा है। यह कठिन काम हमने किस तरह किया है, और कहाँ इसका प्रतिकार है, इस बातपर मैंने अनेक बार विचार करनेकी कोशिश की है; परन्तु, आज सुनन्दाको यदि ठीक इस तरह अपनी आँखों न देखता तो शायद संशय हमेशाके लिए बना ही रह जाता। मैंने देश और विदेशमें तरह-तरहकी स्त्री-स्वाधीनता देखी है। उसका जो नमूना बर्मा मुल्कमें पैर रखते ही देखा था, वह कभी भूलनेकी चीज़ नहीं। तीन-चारेक बर्मी सुन्दरियोंको जब मैंने राजपथपर खड़े खड़े धौरे-दुपहर एक हट्टे-कट्टे जवान मर्दको ईखके टुकड़ोंसे पीटते हुए देखा था तब मैं उसी दम मारे गुदगुदीके रोमाञ्चित होकर पसीनेसे तर-बतर हो गया था। अभयाने मुग्ध दृष्टिसे निरीक्षण करते हुए कहा था, 'श्रीकान्त बाबू, हमारी बंगाली स्त्रियाँ अगर इसी तरह—'

मेरे चचा साहब एक बार दो मारवाड़ी महिलाओंके नाम नालिश करने गये थे। उन लोगोंने रेलगाड़ीमें मौका पाते ही चचा साहबके नाक-कानकी प्रबल

पराक्रमके साथ मलाई कर दी थी। सुनकर मेरी चाची अफसोस करके बोलीं थीं, "अच्छा होता यदि अपने बंगालियोंमें घर-घर इस बातका चलन होता!" होता तो मेरे चचा साहब उसका घोरतर विरोध करते, परन्तु इससे नारी-जातिकी हीन अवस्थाका प्रतिविधान हो जाता, सो निस्सन्देह नहीं कहा जा सकता। मैं आज सुनन्दाके भग्न-गृहके छिन्न आसनपर बैठा हुआ चुपचाप और निस्सन्देह रूपसे अनुभव कर रहा था कि यह कहाँ और क्योंकर हो सकता है। सिर्फ एक 'आइए' कहकर अभ्यर्थना करनेके सिवा उसने मेरे साथ दूसरी कोई बातचीत ही नहीं की, और राजलक्ष्मीके साथ भी ऐसी किसी बड़ी बातकी चर्चामें वह लग गई हो, सो भी नहीं; परन्तु, उसने जो अजयके मिथ्या आडम्बरके उत्तरमें हँसते हुए जता दिया कि इस घरमें पान नहीं हैं और खरीदनेकी सामर्थ्य भी नहीं,—यही वह दुर्लभ वस्तु है! उसकी सब बातोंके बीचमें यह बात मानो मेरे कानोंमें गूज ही रही थी। उसके संकोच-लेश-शून्य इतनेसे परिहाससे दरिद्रताकी सम्पूर्ण लज्जाने मारे शरमके न जाने कहाँ जाकर मुँह छिपा लिया, फिर उसके दर्शन ही नहीं मिले। एक ही क्षणमें मालूम हो गया कि इस टूटे-फूटे मकान, फटे-पुराने कपड़ों, टूटी-फूटी घरकी चीजों और घरके दुःख-दैन्य-अभावोंके बीच इस निराभरण महिलाका स्थान बहुत ऊँचा है। अध्यापक पिताने देनेमें यह दिया कि अपनी कन्याको बहुत ही जतनके साथ धर्म और विद्या दान करके उसे श्वशुर-कुलमें भेज दिया; उसके बाद वह जूते-मोजे पहनेगी या घूँघट हटाकर सड़कोंपर घूमेगी, अथवा, अन्यायका प्रतिवाद करनेके लिए पति-पुत्रको लेकर खंडहर घरमें रहेगी और वहाँ मूड़ी भूनेगी या योगवासिष्ठ पढ़ाएगी, इस बातकी चिन्ता उनके लिए बिलकुल ही सारहीन थी। महिलाओंको हमने हीन बनाया है या नहीं, यह बहस फिजूलकी है, परन्तु, इस दिशामें अगर हम उन्हें वंचित रखते हैं तो उस कर्मका फल भोगना अनिवार्य है!

अजय अगर 'उत्पत्ति-प्रकरण' की बात न कहता तो सुनन्दाकी शिक्षाके विषयमें हम कुछ जान भी न सकते। उसके मूड़ी भूननेसे लेकर सरल और मामूली हँसी-मज़ाक तक किसी भी बातमें 'योगवासिष्ठ'की तेजीने उझकाई तक नहीं मारी। और साथ ही, पतिकी अनुपस्थितिमें अपरिचित अतिथिकी अभ्यर्थना करनेमें भी उसे कहींसे कुछ बाधा नहीं मालूम हुई। निर्जन घरमें एक सत्रह-अठारह वर्षके लड़केकी इतने सहज-स्वभाव और आसानीसे वह मा हो गई है

कि शासन और संशयकी रस्सी-अस्सीसे उसे बाँध रखनेकी कल्पना तक उसके पतिके दिमागमें कभी नहीं आई। हालाँ कि, इसीका पहरा देनेके लिए घर-घर न जाने कितने पहरेदारोंकी सृष्टि हो गई है!

तर्कालंकार महाशय लड़केको साथ लेकर पेंठ करने गये थे। उनसे मिलकर जानेकी इच्छा थी, मगर इधर अबेर हुई जा रही थी। इस गरीब गृहलक्ष्मीका न जाने कितना काम पड़ा होगा, यह सोचकर राजलक्ष्मी उठ खड़ी हुई, और विदा लेकर बोली, "आज जा रही हूँ, अगर नाखुश न होओ तो फिर आऊँगी।"

मैं भी उठ खड़ा हुआ, बोला, "मुझे भी बात करनेके लिए कोई आदमी नहीं, अगर अभय-दान दें तो कभी कभी चला आया करूँ।"

सुनन्दाने मुँहसे कुछ नहीं कहा, पर हँसते हुए गरदन हिला दी। रास्तेमें आते आते राजलक्ष्मीने कहा, "बड़ी मज़ेकी स्त्री है। जैसा पति वैसी ही पत्नी। भगवानने इन्हें खूब मिलाया है।"

मैंने कहा, "हाँ।"

राजलक्ष्मीने कहा, "इनके उस घरकी बात आज नहीं छेड़ी। कुशारी महाशयको अब तक अच्छी तरह पहिचान न सकी, पर ये दोनों दौरानी-जिठानी बड़ी मजेकी हैं।"

मैंने कहा, "हाँ, बात तो ऐसी ही है। मगर तुममें तो आदमीको वश करनेकी अद्भुत शक्ति है, देखो न कोशिश करके अगर इनमें मेल करा सको।"

राजलक्ष्मीने जरा दबी हँसी हँसकर कहा, "शक्ति हो सकती है, पर तुम्हें वश कर लेना उसका सुबूत नहीं। कोशिश करनेपर वह तो और भी बहुतेरी कर सकती हैं।"

मैंने कहा, "हो भी सकता है। मगर, जब कि कोशिशका मौका ही नहीं आया, तो बहस करनेसे भी कुछ हाथ न आएगा।"

राजलक्ष्मीने उसी तरह मुसकराते हुए कहा, "अच्छा जी, अच्छा। अभीसे यह मत समझ लो कि दिन बीत ही गये हैं।"

आज दिन-भरसे न जाने कैसी बदली-सी छाई हुई थी। दोपहरका सूर्य असमय-में ही एक काले बादलमें छिप जानेसे सामनेका आकाश रंगीन हो उठा था। उसीकी गुलाबी छायाने सामनेके कठोर धूसर मैदान और उसके एक किनारेके बाँसोंके झाड़ और दो-तीन इमलीके पेड़ोंपर सोनेका पानी फेर दिया था।

राजलक्ष्मीके अन्तिम आरोपका मैंने कोई जवाब नहीं दिया, परन्तु भीतरका मन मानो बाहरकी दस दिशाओंके समान ही रंगीन हो उठा। मैंने कनखियोंसे उसके मुँहकी ओर ताककर देखा कि उसके ओठोंपरकी हँसी तब तक पूरी तौरसे बिलाई नहीं है। विगलित स्वर्णप्रभामें वह अतिशय परिचित मुख बहुत ही अपूर्व मालूम हुआ। हो सकता है कि वह सिर्फ आकाशहीका रंग न हो; हो सकता है कि जो प्रकाश मैं और एक नारीके पाससे अभी अभी हाल ही चुरा लाया हूँ, उसीकी अपूर्व दीप्ति इसके भी हृदयमें खेलती फिर रही हो। रास्तेमें हम दोनोंके सिवा और कोई नहीं था। उसने सामनेकी ओर उँगली दिखाते हुए कहा, "तुम्हारी छाया क्यों नहीं पड़ती, बताओ तो?" मैंने गौरसे देखा कि पास ही दाहिनी ओर हम दोनोंकी अस्पष्ट छाया एक होकर मिल गई है। मैंने कहा, "चीज़ होती है तो छाया पड़ती है,—शायद अब वह नहीं है।"

"पहले थी?"

"ध्यानसे नहीं देखा, कुछ याद नहीं पड़ता।"

राजलक्ष्मीने हँसते हुए कहा, "मुझे याद पड़ता है,—नहीं थी। थोड़ी उमरसे ही उसे देखना सीख गई थी।" यह कहते हुए उसने परितृप्तिकी साँस लेकर फिर कहा, "आजका दिन मुझे बहुत ही अच्छा लगा है। मालूम होता है इतने दिनों बाद मुझे एक साथी मिला है।" यह कहकर उसने मेरी ओर देखा। मैंने कुछ कहा नहीं, पर मन-ही-मन यह निश्चित समझ लिया कि उसने बिल्कुल सच ही कहा है।

घर आ पहुँचा। पर पैर धोनेकी भी छुट्टी न मिली। शान्ति और तृप्ति दोनों ही एक साथ गायब हो गईं। देखा कि बाहरका आँगन आदमियोंसे भरा हुआ है; दस-पन्द्रह आदमी बैठे हैं, जो हमें देखते ही उठ खड़े हुए। रतन शायद अब तक व्याख्यान दे रहा था, उसका चेहरा उत्तेजना और निगूढ़ आनन्दसे चमक रहा था। वह पास आकर बोला, "माजी, मैं बार बार जो कहता था, वही बात हुई।"

राजलक्ष्मीने अधीर भावसे कहा, "क्या कहता था मुझे याद नहीं, फिरसे बता।"

रतनने कहा, "नवीनको थानेके लोग हथकड़ी डालकर कमर बाँधके ले गये हैं।"

"बाँधके ले गये हैं? कब? क्या किया था उसने?"

"मालतीको एकदम मार डाला है।"

"कह क्या रहा है तू!"

राजलक्ष्मीका चेहरा एकबारगी फक पड़ गया।

मगर बात खतम होते न होते बहुत-से लोग एक साथ कह उठे, "नहीं, नहीं, माता-रानी, एकदम मार नहीं डाला। खूब मारा तो जरूर है, पर जानसे नहीं मारा।"

रतनने आँखें तरेरकर कहा, "तुम लोग क्या जानते हो? उसको अस्पताल भेजना होगा, लेकिन उसका पता नहीं, ढूँढ़े मिल नहीं रही है। न-जाने कहाँ गई। तुम सबके हाथ हथकड़ी पड़ सकती है, जानते हो?"

सुनते ही सबके मुँह सूख गये। किसी-किसीने सटकनेकी भी कोशिश की। राजलक्ष्मीने रतनकी तरफ कड़ी निगाहसे देखते हुए कहा, "तू उधर जाकर खड़ा हो, चल। जब पूछूँगी तब बताना। भीड़के अन्दर मालतीका बूढ़ा बाप फक चेहरा लिये खड़ा था; हम सभी उसे पहिचानते थे, इशारेसे उसे पास बुलाकर पूछा, "क्या हुआ है विश्वनाथ, सच सच बताओ तो? छिपानेसे या झूठ बोलनेसे विपत्तिमें पड़ सकते हो।"

विश्वनाथने जो कुछ कहा, उसका संक्षिप्त सार यह है,—कल रातसे मालती अपने बापके घर थी। आज दोपहरको वह तालाबमें पानी भरने गई थी। उसका पति नवीन वहीं कहीं छिपा हुआ था। मालतीको अकेली पाकर उसने उसे खूब मारा,—यहाँ तक कि सिर फोड़ दिया। मालती रोती हुई पहले यहाँ आई, पर हम लोगोंसे भेंट न हुई, तो वह चली गई कुशारीजीकी खोजमें कचहरी। वहाँ उनसे भी मुलाकात न हुई, तो फिर वह सीधी चली गई थानेमें। वहाँ मारने-पीटनेके निशान दिखाकर पुलिसको अपने साथ ले आई और नवीनको पकड़वा दिया। वह उस समय घरहीपर था, अपने हाथसे मुट्ठी-भर चावल उबालकर खाने बैठ रहा था, लिहाजा उसे भागनेका भी मौका न मिला। दरोगा साहबने लात मारकर उसका भात फेंक दिया, और फिर वे उसे बाँधकर ले गये।

हाल सुनकर राजलक्ष्मीके नीचेसे लेकर ऊपरतक आग-सी लग गई। उसे मालती जैसे देखे न सुहाती थी, वैसे नवीनपर भी वह खुश न थी। मगर उसका सारा गुस्सा आकर पड़ा मेरे ऊपर। क्रुद्धकंठसे बोली, "तुमसे सौ सौ बार कहा है कि इन नीचोंके गन्दे झगड़ोंमें मत पड़ा करो। जाओ अब सम्हालो जाकर,—मैं कुछ नहीं जानती।" इतना कहकर वह और किसी तरफ बिना देखे जल्दीसे भीतर चली गई। कहती गई कि "नवीनको फाँसी ही होना चाहिए, और वह हरामजादी अगर मर गई हो तो आफत चुकी!"

कुछ देरके लिए हम सभी लोग मानो जड़वत् हो रहे। फटकार खाकर मुझे ऐसा मालूम होने लगा कि कल इतने ही वक्त मध्यस्थ होकर मैंने जो इनका फैसला कर दिया था, वह अच्छा नहीं हुआ। न करता तो शायद आज यह दुर्घटना न होती। परन्तु मेरा अभिप्राय तो अच्छा ही था। सोचा था कि प्रेम-लीलाका जो अदृश्य स्रोत भीतर ही भीतर प्रवाहित होकर सारे मुहल्लेको निरन्तर गँदला कर रहा है, उसे मुक्त कर देनेसे शायद अच्छा ही होगा। अब देखता हूँ कि गलती की थी मैंने। परन्तु, इसके पहले सारी घटनाको जरा विस्तारके साथ कह देनेकी जरूरत है। मालती नवीन डोमकी स्त्री तो जरूर है, पर यहाँ आनेके बादसे देखा है कि डोमोंके मुहल्ले-भरमें वह एक आगकी चिनगारी-सी है। कब किस परिवारमें वह आग लगा देगी, इस सन्देहसे किसी भी स्त्रीके मनमें शान्ति नहीं। यह युवती देखनेमें जैसी सुन्दरी है, स्वभावकी भी उतनी ही चपल है। वह चमकीली बेंदी लगाती है, नीबूका तेल डालकर जूड़ा बाँधती है, चौड़ी काली किनारीकी मिलकी साड़ी पहिनती है, राह-घाटमें उसका माथेका घूँघट खिसककर कँधे तक उतर आता है,—उसकी उसे कोई परवाह नहीं रहती। इस मुखरा अल्हड़ लड़कीके मुँहके सामने किसीको कुछ कहनेकी हिम्मत नहीं पड़ती मगर पीठ-पीछे मुहल्लेकी स्त्रियाँ उसके नामके साथ जो विशेषण जोड़ा करती हैं, उसका यहाँ उल्लेख नहीं किया जा सकता। पहले तो सुननेमें आया कि मालतीने नवीनके साथ घर-गिरस्ती करनेसे इन्कार ही कर दिया था, और वह मायकेमें ही रहा करती थी। कहा करती थी कि वह मुझे खिलाएगा क्या? और इसी धिक्कारके कारण ही, शायद, नवीन देश छोड़कर किसी शहरको चला गया था और वहाँ पियादेका काम करने लगा था। साल-

भर हुआ, वह गाँवको लौटा था। शहरसे आते वक्त वह मालतीके लिए चाँदीकी पौंची, महीन सूतकी साड़ी, रेशमका फीता, एक बोतल गुलाब-जल और एक टीनका ट्रंक साथ लेता आया था, और उन चीजोंके बदले वह स्त्रीको अपने घर ही नहीं लाया, बल्कि उसके हृदयपर भी उसने अपना अधिकार जमा लिया था। मगर, ये सब मेरी सुनी हुई बातें हैं। फिर कब उसे स्त्रीपर सन्देह जाग उठा, कब वह तालाब जानेके रास्ते आड़में छिपकर सब देखने लगा, और उसके बाद जो कुछ शुरू हो गया, सो मैं ठीक नहीं जानता। हम लोग तो जबसे आये हैं तभीसे देख रहे हैं कि इस दम्पतिका वाग्युद्ध और हस्त-युद्ध एक दिनके लिए भी कभी मुल्तबी नहीं रहा। सिर-फुड़ौवल सिर्फ़ आज ही नहीं, और भी दो-एक रोज हो चुका है,—शायद इसीलिए आज नवीन मंडल अपनी स्त्रीका सिर फोड़ आनेपर भी निश्चिन्त चित्तसे खाने बैठ रहा था, उसने कल्पना भी न की थी कि मालती पुलिस बुलाकर उसे बँधवाकर चालान करवा देगी। कल सबेरे ही प्रभाती रागिणीकी तरह मालतीके तीक्ष्ण कंठने जब गगन-वेध करना शुरू कर दिया, तो राजलक्ष्मीने घरका काम छोड़कर मेरे पास आकर कहा, "घरके ही पास रोज इस तरहका लड़ाई-दंगा सहा नहीं जाता,—न हो तो कुछ रुपये-पैसे देकर इस अभागीको कहीं बिदा कर दो।"

मैंने कहा, "नवीन भी कम पाजी नहीं है। काम-काज कुछ करेगा नहीं, सिर्फ़ जुल्फें निकालकर मछली पकड़ता फिरेगा, और हाथमें पैसा आते ही ताड़ी पीकर मार-पीट शुरू कर देगा।" कहनेकी ज़रूरत नहीं कि यह सब वह शहरसे सीख आया था।

"दोनों ही एक-से हैं!" कहकर राजलक्ष्मी भीतर चली गई। कहती गई, "काम-काज करे तो कब? हरामजादी छुट्टी दे तब तो!"

वास्तवमें, असह्य हो गया था; इनकी गाली-गलौज और मार-पीटका मुकद्दमा मैंने और भी दो-एक बार किया है,—कोई फल नहीं हुआ; तब सोचा कि खाना-पीना हो जानेके बाद बुलवाकर आज आखिरी फैसला कर दूँगा। पर बुलाना न पड़ा, दोपहरको मुहल्लेके स्त्री-पुरुषोंसे घर भर गया। नवीनने कहा, "बाबूजी, उसको मैं नहीं चाहता,—बिगड़ी हुई औरत है। वह मेरे घरसे निकल जाय।"

मुखरा मालतीने घूँघटके भीतरसे कहा, "वह मेरा साँखा-नोआ* खोल दे।"

नवीनने कहा, "तू मेरी चाँदीकी पौंची लौटा दे।"

मालतीने उसी वक्त अपने हाथोंसे पौंची उतारकर दूर फेंक दी।

नवीनने उसे उठाकर कहा, "मेरा टीनका बकस तू नहीं रख सकती।"

मालतीने कहा, "मैं नहीं चाहती।" यह कहकर उसने आँचलसे चाबी खोलकर उसके पैरोंके पास फेंक दी।

नवीनने इसपर वीर-दर्पके साथ आगे बढ़कर मालतीके 'साँखा' पट-पट करके तोड़ दिये, और 'नोआ' खोलकर दीवारके उस तरफ फेंक दिया। बोला, "जा, तुझे विधवा कर दिया।"

मैं तो अवाक् हो गया। एक वृद्धने तब मुझे समझाया कि ऐसा किये बिना मालती दूसरा निकाह जो नहीं कर सकती,—सब-कुछ ठीक-ठाक हो गया है।

बातों-ही-बातोंमें घटना और भी विशद हो गई। विश्वेश्वरके बड़े दामादका भाई आज छै महीनेसे दौड़-धूप कर रहा है। उसकी हालत अच्छी है, विशूको वह बीस रुपये नगद देगा और मालतीको उसने छड़े, चाँदीकी चूड़ियाँ और सोनेकी नथ देनेके लिए कहा है,—यहाँ तक कि ये चीजें उसने विशूके हवाले भी कर दी हैं।

सुनकर सारी घटना मुझे बहुत ही भद्दी मालूम हुई। अब इसमें सन्देह न रहा कि कुछ दिनोंसे एक बीभत्स षड्यंत्र चल रहा है, और बिना जाने मैंने उसमें शायद मदद ही की है। नवीनने कहा, "मैं तो यही चाहता था। शहरमें जाकर अब मज़ेसे नौकरी करूँगा,—तेरी जैसी ऐसी बीसों शादी कर लूँगा। राँगामाटीका हरी मंडल तो अपनी लड़कीके लिए खुशामद कर रहा है,—उसके पैरोंकी धूल भी तू नहीं है।" यह कहकर वह अपनी चाँदीकी पौंची और ट्रंककी चाबी अंटीमें लगाकर चल दिया। इतनी उछल-कूद करनेपर भी उसका चेहरा देखकर मुझे ऐसा नहीं मालूम हुआ कि उसकी शहरकी नौकरी या हरी मंडलकी लड़की इन दोनोंमेंसे किसीकी भी आशाने उसके भविष्यको काफी उज्ज्वल कर दिया है।

---

* शंख और लोहेकी बनी एक प्रकारकी चूड़ी जो बंगालियोंमें सुहागका चिह्न समझी जाती है।

रतनने आकर कहा, " बाबूजी, माजीने कहा है कि इन सब गन्दे झगड़ोंको घरसे निकाल बाहर कीजिए । "

मुझे करना कुछ भी न पड़ा, विश्वेश्वर अपनी लड़कीको लेकर उठ खड़ा हुआ; और इस डरसे कि कहीं वह मेरे चरणोंकी धूल लेने न आवे, मैं झटपट घरके भीतर चला गया। मैंने सोचनेकी कोशिश की कि खैर, जो हुआ सो अच्छा ही हुआ। जब कि दोनोंका मन फट ही गया है, और उपाय जब कि है, तब व्यर्थके क्रोधसे रोजमर्रा मार-पीट और सिर-फुड़ौवल करके दाम्पत्य निभानेकी अपेक्षा यह कहीं अच्छा हुआ।

परन्तु, आज सुनन्दाके घरसे लौटनेपर सुना कि कलका फैसला कतई अच्छा नहीं हुआ। सद्य-विधवा मालतीपरसे नवीनने, पूर्णतः अपना अधिकार हटा लेनेपर भी, मार-पीटका अधिकार अब भी नहीं छोड़ा है। वह इस मुहल्लेसे उस मुहल्लेमें जाकर शायद सबेरेसे ही छिपा हुआ बाट देख रहा होगा और अकेलेमें मौका पाते ही ऐसी दुर्घटना कर बैठा है। पर मालती कहाँ गई ?

सूर्य अस्त हो गया। पश्चिमके जंगलेसे मैदानकी तरफ देखता हुआ सोच रहा था, जहाँ तक सम्भव है, मालती पुलिसके डरके मारे कहीं छिप गई होगी,—मगर नवीनको जो उसने पकड़वा दिया, सो अच्छा ही किया। अभागेको उचित दंड मिला,—लड़कीकी जान बची।

राजलक्ष्मी संध्याका प्रदीप हाथमें लिये कमरेमें आई और कुछ देर ठिठककर खड़ी रही, पर कुछ बोली नहीं। चुपकेसे निकलकर बगलके कमरेके चौखटपर पैर रखते ही, कोई एक भारी चीज गिरनेके शब्दके साथ-साथ, वह अस्फुट चीत्कार कर उठी। दौड़कर पहुँचा, तो देखता हूँ कि एक बड़ी कपड़ेकी पोटली-सी दोनों हाथ बढ़ाकर उसके पैर पकड़कर अपना सिर धुन रही है। राजलक्ष्मीके हाथका दीआ गिर जानेपर भी जल रहा था, उठाकर देखते ही वही महीन सूतकी चौड़ी काली किनारीकी साड़ी दिखाई दी।

कहा, " यह तो मालती है। "

राजलक्ष्मीने कहा, " अभागी कहींकी, शामके वक्त मुझे छू दिया। ऐं ! यह कैसी आफत है बताओ तो ! "

दीआके उजेलेमें गौरसे देखा कि उसके माथेकी चोटमेंसे फिर खून गिर रहा है और राजलक्ष्मीके पैर लाल हुए जा रहे हैं, और साथ ही अभागिनका

रोना मानो सहस्र धाराओंमें फटा पड़ रहा है; कह रही है, " माजी बचाओ मुझे, बचाओ—"

राजलक्ष्मीने कटु स्वरमें कहा, " क्यों, अब तुझे और क्या हो गया ?"

उसने रोते हुए कहा, " दरोगा कहता है कि कल सबेरे ही उसका चालान कर देगा,—चालान होते ही पाँच सालकी कैद हो जायगी ।"

मैंने कहा, " जैसा काम किया है वैसी सजा भी तो मिलनी चाहिए ।"

राजलक्ष्मीने कहा, " हो न जाने दे कैद, उससे तुझे क्या ?"

लड़कीका रोना मानो ज़ोरकी आँधीकी तरह एकाएक छाती फाड़कर निकल पड़ा; " बोली, बाबूजी कहते हैं तो कहने दीजिए, माजी, ऐसी बात तुम मत कहो,—उसके मुँहका कौर तक मैंने निकलवा लिया है ।" कहते कहते वह फिर सिर धुनने लगी,—बोली, " माजी, अबकी बार तुम हम लोगोंको बचा दो, फिर तो कहीं परदेस जाकर भीख माँगके गुजर करूँगी, पर तुम्हें तंग न करूँगी । नहीं तो तुम्हारे ही तालमें डूबके मर जाऊँगी ।"

सहसा राजलक्ष्मीकी दोनों आँखोंसे आँसुओंकी बड़ी बड़ी बूँदें टपकने लगीं; धीरे धीरे उसके बालोंपर हाथ रखकर रुँधे हुए गलेसे कहा, " अच्छा, अच्छा, तू चुप रह,—मैं देखती हूँ ।"

देखना भी उसीको पड़ा । राजलक्ष्मीके बकससे दो सौ रुपये उसी रातको कहाँ गायब हो गये, सो कहनेकी जरूरत नहीं; पर, दूसरे दिन सबेरेसे ही नवीन मंडल या मालती दोनोंमेंसे किसीकी भी फिर गंगामाटीमें शकल देखनेमें नहीं आई ।

९

उनके विषयमें सभीने सोचा कि जाने दो, जान बची । राजलक्ष्मीको तुच्छ विषयोंपर ध्यान देनेकी फुरसत ही न थी; वह दो ही चार दिनमें सब भूल गई; और याद भी करती तो क्या याद करती सो वही जाने । मगर इतना तो सभीने सोच लिया कि मुहल्लेसे एक पाप दूर हुआ । सिर्फ एक रतन ही खुश न हुआ । वह बुद्धिमान ठहरा, सहजमें अपने मनकी बात व्यक्त नहीं करता, पर उसके चेहरेको देखकर मालूम होता था कि इस बातको उसने कतई पसन्द

नहीं किया। उसके हाथसे मध्यस्थ बनने और शासन करनेका मौका निकल गया, उसपर मालिकिनके घरसे रुपया भी गया,—इतना बड़ा एक समारोह काण्ड एक ही रातमें न जाने कैसे और कहाँ होकर गायब हो गया, पता ही न लगा। कुल मिलाकर कहनेका मतलब यह है कि इससे उसने अपनेको ही अपमानित समझा, और यहाँ तक कि वह अपनेको आहत-सा समझने लगा। फिर भी वह चुप रहा। और, घरकी जो मालिकिन थीं, उनका तो ध्यान ही और तरफ था। ज्यों ज्यों दिन बीतने लगे, उनपर सुनन्दा और उससे मंत्र-तंत्रकी उच्चारण-शुद्धि सीखनेका लोभ सवार होता गया। किसी भी दिन वहाँ जानेमें उसका नागा न होता। वहाँ वह कितना धर्म-तत्त्व और ज्ञान प्राप्त किया करती थी, सो मैं कैसे जान सकता हूँ? मुझे सिर्फ उसका परिवर्तन मालूम पड़ रहा था। वह जैसा द्रुत था वैसा ही अचिन्तनीय। दिनका खाना मेरा हमेशासे ही जरा देरसे हुआ करता था। राजलक्ष्मी बराबर आपत्ति ही करती आई है, कभी उसने अनुमोदन नहीं किया,—यह ठीक है; परन्तु उस त्रुटिको दूर करनेके लिए मुझे कभी रंचमात्र कोशिश नहीं करनी पड़ी। मगर आज इत्तिफाकसे अगर किसी दिन ज्यादा देर हो जाती, तो मैं खुद ही मन ही मन लज्जित हो जाता। राजलक्ष्मी कहती, "तुम कमजोर आदमी हो, तुम इतनी देर क्यों कर लेते हो? अपने शरीरकी तरफ नहीं देखते तो कमसे कम नौकर-चाकरोंकी तरफ ही देख लेना चाहिए। तुम्हारे आलससे वे जो मारे जाते हैं!" बातें पहलेकी-सी ही हैं पर ठीक वैसी नहीं हैं। वह सस्नेह प्रश्रयका स्वर मानो अब नहीं बजता,—बल्कि अब तो विरक्तिकी एक कटुता बजा करती है जिसकी निगूढ़ झनझनाहटको, नौकर-चाकरोंकी तो बात ही छोड़ दो, मेरे सिवा भगवानके कान तक भी पकड़नेको समर्थ नहीं। इसीसे भूख न लगनेपर भी नौकर-चाकरोंका मुँह देखकर मैं झटपट किसी तरह नहा-खाकर उन्हें छुट्टी दे देता। परन्तु मेरे इस अनुग्रहपर नौकर-चाकरोंका आग्रह था या उपेक्षा सो वे ही जानें; पर, राजलक्ष्मीको देखता कि दस-ही-पन्द्रह मिनटके अन्दर वह घरसे निकल जाया करती है। किसी दिन रतन और किसी दिन दरबान उसके साथ जाता और किसी दिन देखता कि आप अकेली ही चल दी है; इनमेंसे किसीके लिए ठहरे रहनेकी उसे फुरसत ही न थी। पहले दो-चार दिन तक तो मुझसे साथ चलनेके लिए आग्रह किया गया, परन्तु उन्हीं दो-

चार दिनोंमें समझमें आ गया कि इससे किसी भी पक्षको सुविधा न होगी। हुई भी नहीं। अतएव मैं अपने निराले कमरेमें पुराने आलस्यमें, और वह अपने धर्म-कर्म और मन्त्र-तन्त्रकी नवीन उद्दीपनामें, निमग्न हो क्रमशः मानों एक दूसरेसे पृथक् होने लगे!

मैं अपने खुले जंगलेसे देखा करता कि वह धूपसे तपे हुए सूखे मैदानके रास्तेसे जल्दी जल्दी कदम रखती हुई मैदान पार हो रही है। अकेले पड़े पड़े सारा दोपहर मेरा किस तरह कटता होगा इस ओर ध्यान देनेका उसे अवकाश नहीं है,—इस बातको मैं समझता था, फिर भी जितनी दूर तक आँखोंसे उसका अनुसरण किया जा सकता है, उतना बिना किये मुझसे रहा न जाता। टेढ़ी-मेढ़ी पगडंडियोंसे उसकी विलीयमान देह-लता धीरे धीरे दूरान्तरालमें जाकर कब गायब हो जाती,—कितने ही दिन तो उस समय तकको मेरी आँखें न पकड़ पातीं, मालूम होता कि उसका वह एकान्त सुपरिचित चलना मानो तब तक खतम नहीं हुआ,—मानो वह चलती ही जा रही है। सहसा चेतना होती। तब शायद आँखें पोंछकर और एक बार अच्छी तरह देखकर फिर बिस्तरपर पड़ रहता। किसी किसी दिन कर्महीनताकी दुःसह क्लान्तिके कारण सो भी जाता,—नहीं तो आँखें मीचकर चुपचाप पड़ा रहता। पासके कुछ भौंडी सूरतके बबूलके पेड़ोंपर घुग्घू बोला करते और उनके साथ-ही-साथ स्वर मिलाकर मैदानकी गरम हवा आस-पासके डोमोंके बाँस-झाड़ोंमें फँसकर ऐसी एक व्यथा-भरी दीर्घ निःश्वास लेती रहती कि मुझे भ्रम हो जाता कि शायद वह मेरे हृदयमेंसे ही निकल रही है। डर लगता कि शायद इस तरह अब ज़्यादा दिन न सहा जायगा।

रतन घर रहता तो बीच-बीचमें दबे पाँव मेरे कमरेमें आकर कहता, "बाबू, हुक्का भर लाऊँ?" कितने ही दिन ऐसा हुआ है कि जागते हुए भी मैंने उसकी बातका जवाब नहीं दिया है, सो जानेका बहाना करके चुप रह गया हूँ; क्योंकि, डरता था कि कहीं उसे मेरे चेहरेपरसे मेरी इस वेदनाका आभास न मिल जाय। रोजकी तरह उस दिन भी राजलक्ष्मी जब सुनन्दाके घर चली गई, तब सहसा मुझे बर्माकी याद आ गई और बहुत दिनों बाद मैं अभयाको चिट्ठी लिखने बैठ गया। तबीयत हुई कि जिस फर्ममें मैं काम करता था उसके बड़े साहबको भी एक चिट्ठी लिखकर खबर मँगाऊँ। मगर क्या खबर मँगाऊँ, क्यों मँगाऊँ और मँगाकर

क्या करूँगा, ये सब बातें तब भी मैंने नहीं सोचीं। सहसा मालूम हुआ कि खिड़कीके सामनेसे जो स्त्री घूँघट काढ़े जल्दी जल्दी कदम रखती हुई चली गई है उसे जैसे मैं पहिचानता हूँ,—जैसे वह मालती-सी है। उठके झाँककर देखनेकी कोशिश की, मगर, कुछ दिखाई नहीं दिया। उसी क्षण उसके आँचलकी लाल किनारी हमारे मकानकी दीवारके कोनेमें जाकर बिला गई।

महीने-भरका व्यवधान पड़ जानेसे डोमोंकी उस शैतान लड़कीको एक तरहसे सभी कोई भूल गये थे, सिर्फ मैं ही न भूल सका था। मालूम नहीं क्यों, मेरे मनके एक कोनेमें, उस उच्छृंखल लड़कीके उस दिन शामको निकले हुए आँसुओंका गीला दाग ऐसा बैठ गया था कि अब तक नहीं सूखा। अकसर मुझे खयाल हुआ करता कि न जाने वे दोनों कहाँ होंगे। जाननेकी तबीयत होती कि इस गंगामाटीके बुरे प्रलोभन और कुत्सित षड्यंत्रके वेष्टनके बाहर अपने पतिके पास रहकर उस लड़कीके कैसे दिन कट रहे हैं। चाहा करता कि यहाँ वे अब जल्दी न आवें। वापस आकर चिट्ठी खतम करने बैठ गया; कुछ ही पंक्तियाँ लिख पाया था कि पीछेसे पैरोंकी आहट पाकर मुँह उठाकर देखा तो रतन है। उसके हाथमें भरी हुई चिलम थी, वह उसे गड़गड़ेके माथेपर रखकर उसकी नली मेरे हाथमें देते हुए बोला, "बाबूजी, तमाखू पीजिए।"

मैंने गरदन हिलाकर कहा, "अच्छा।"

मगर वह उसी वक्त वहाँसे चला नहीं गया। कुछ देर चुपचाप खड़ा रहकर परम गम्भीरताके साथ बोला, "बाबूजी, यह रतन परामाणिक × कब मरेगा सिर्फ इतना ही वह नहीं जानता!"

उसकी भूमिकासे हम लोग परिचित थे; राजलक्ष्मी होती तो कहती, 'जानता तो अच्छा होता, लेकिन बता क्या कहना चाहता है?' मैं सिर्फ मुँह उठाकर हँस दिया। मगर इससे रतनकी गम्भीरतामें जरा भी फर्क न आया; बोला, "माजीसे मैंने उस दिन कहा था न कि छोटी जातकी बातोंमें न आइए! उनके आँसुओंसे पिघलकर दो सौ रुपयोंपर पानी मत फेरिए! कहिए, कहा था कि नहीं।" मुझे मालूम है कि उसने नहीं कहा। यह सदभिप्राय

× प्रामाणिकका अपभ्रंश, बंगाली नाइयोंकी उपाधि।

उसके मनमें हो तो विचित्र नहीं, पर मुँहसे कहनेकी हिम्मत उसे तो क्या, शायद मुझे भी न होती। मैंने कहा, " मामला क्या है रतन ? "

रतनने कहा, " मामला शुरूसे जो जानता हूँ,—वही है। "

मैंने कहा, " मगर मैं, जब कि, अब भी नहीं जानता, तब जरा खुलासा ही बता दे। "

रतनने खुलासा करके ही कहा। सब बातें सुनकर मेरे मनमें क्या हुआ, सो बताना कठिन है। सिर्फ इतना याद है कि उसकी निष्ठुर कदर्यता और असीम बीभत्सताके भारसे मेरा सम्पूर्ण चित्त एक बारगी तिक्त और विवशसा हो गया। कैसे क्या हुआ, उसका विस्तृत इतिहास रतन अभीतक इकट्ठा नहीं कर पाया है; परन्तु जितना सत्य उसने छानकर निकाला है उससे मालूम हुआ कि नवीन मोड़ल फिलहाल जेलमें सजा काट रहा है और मालती अपने बहिनोईके उस छोटे भाईको, जो बड़ा आदमी है, साथी बनाकर गंगामाटीमें रहनेके लिए कल अपने मायके लौट आई है। मालतीको अगर अपनी आँखोंसे न देखता तो शायद इस बातपर विश्वास करना ही कठिन हो जाता कि राजलक्ष्मीके रुपयोंकी सचमुच ही इस प्रकार सद्गति हुई है।

उसी रातको मुझे खिलाते वक्त राजलक्ष्मीने यह बात सुनी। सुनकर उसने सिर्फ आश्चर्यके साथ इतना कहा, " कहता क्या है रतन, क्या यह सच्ची बात है ? तब तो छुकड़ियाने उस दिन अच्छा तमाशा किया ! रुपये यों ही गये,— और बेवक्त मुझे नहला मारा सो अलग !—यह क्या, तुम्हारा खाना हो गया क्या, इससे तो खाने बैठा ही न करो तो अच्छा ! "

इन सब प्रश्नोंके उत्तर देनेकी मैं कभी व्यर्थ कोशिश नहीं करता,— आज भी चुप रहा। मगर, एक बातका मैंने अनुभव किया। आज नाना कारणोंसे मुझे बिलकुल ही भूख न थी, प्रायः कुछ न भी खाया था,—इसीसे आजके कम खानेने उसकी दृष्टि आकर्षित कर ली; नहीं तो, कुछ दिनोंसे जो मेरी खुराक, धीरे धीरे घट रही थी, उसपर उसकी दृष्टि ही नहीं पड़ी। इससे पहले इस विषयमें उसकी दृष्टि इतनी तीक्ष्ण थी कि मेरे खाने-पीनेमें यदि जरा-सी भी कमी-वेशी होती तो उसकी आशंका और शिकायतोंकी सीमा न रहती,—परन्तु, आज, चाहे किसी भी कारणसे हो, एककी उस श्येन-दृष्टिके

धुँधली हो जानेसे दूसरेकी गंभीर वेदनाको भी सबके सामने हाय-तोबा करके लांछित कर डालूँ, ऐसा भी मैं नहीं। इसीसे, उच्छ्वसित दीर्घ-निःश्वासको दबाकर, मैं बिना कुछ जवाब दिये चुपकेसे उठ खड़ा हुआ।

मेरे दिन एक ही भावसे शुरू होते हैं और एक ही भावसे खतम होते हैं। न आनन्द है, न कुछ वैचित्र्य है, साथ ही किसी विशेष दुःख-कष्टकी शिकायत भी नहीं। शरीर मामूली तौरसे अच्छा ही है।

दूसरे दिन सबेरा हुआ। दिन चढ़ने लगा। यथारीति स्नानाहार करके अपने कमरेमें जाकर बैठा। सामने वही खुला जंगला, और वैसा ही बाधाहीन उन्मुक्त शुष्क मैदान। पत्रामें आज शायद कोई विशेष उपवासकी विधि बताई गई थी इससे राजलक्ष्मीको आज उतना समय नष्ट न करना पड़ा,—यथासमयके कुछ पहले ही वह सुनन्दाके घरकी ओर रवाना हो गई। अभ्यासके अनुसार शायद मैं बहुत देर तक उसी तरह जंगलेके बाहर देख रहा था। सहसा याद आई कि कलकी उन अधूरी दोनों चिट्ठियोंको पूरा करके आज तीन बजनेके पहले ही डाकमें छोड़ना है। अतएव, झूठमूठको समय नष्ट न करके शीघ्र ही उस काममें जुट गया। चिट्ठियोंको समाप्त करके जब पढ़ने लगा, तब न जाने कहाँ एक व्यथा-सी होने लगी, मनमें न जाने कैसा होने लगा कि कुछ न लिखता तो अच्छा होता; हालाँ कि बहुत ही साधारण चिट्ठी लिखी गई थी, फिर भी, बार बार पढ़नेपर भी, कहाँ उसमें त्रुटि रह गई, पकड़ न सका। एक बात मुझे याद है। अभयाकी चिट्ठीमें रोहिणी भइयाको नमस्कार लिखकर अन्तमें लिखा था कि 'तुम लोगोंकी बहुत दिनोंसे कोई खबर नहीं मिली। तुम लोग कैसे हो, कैसे तुम लोगोंके दिन बीतते हैं, सिर्फ कल्पना करनेके सिवा, यह जाननेकी मैंने कोई कोशिश नहीं की। शायद सुख-चैनसे हो, शायद न भी हो; परन्तु तुम लोगोंकी जीवन-यात्राके इस पहलूको, जिसे एक दिन मैंने भगवानपर छोड़कर अपनी इच्छासे उसपर पर्दा खींच दिया था,—आज भी, वह वैसे ही लटक रहा है;—उसे किसी दिन उठानेकी इच्छा तक मैंने नहीं की। तुम्हारे साथ मेरी घनिष्ठता बहुत दिनोंकी नहीं, किन्तु, जिस अत्यन्त दुःखके भीतरसे एक दिन हम दोनोंका परिचय आरम्भ और एक और दिन समाप्त हुआ था, उसे समयके मापसे

नापनेकी कोशिश हममेंसे किसीने भी नहीं की। जिस दिन भयंकर रोगसे पीड़ित था, उस दिन उस आश्रय-हीन सुदूर विदेशमें तुम्हारे सिवा और किसीके यहाँ जानेका मेरे लिए कोई स्थान ही न था। तब एक क्षणके लिए भी तुमने दुबिधा नहीं की,—सम्पूर्ण हृदयसे इस पीड़ितको तुमने ग्रहण कर लिया था। हालाँ कि यह बात मैं नहीं कहता कि वैसी बीमारीमें, और कभी किसीने वैसी सेवा करके मुझे नहीं बचाया; परन्तु आज बहुत दूर बैठा हुआ दोनोंके प्रभेदका भी अनुभव कर रहा हूँ। दोनोंकी सेवामें, निर्भरतामें, हृदयकी अकपट शुभ कामनामें, और तुम लोगोंके निबिड़ स्नेहमें गंभीर एकता मौजूद है; किन्तु, तुम्हारे अन्दर ऐसी एक स्वार्थलेशहीन सुकोमल निर्लिप्तता और ऐसा अनिर्वचनीय वैराग्य था, जिसने सिर्फ सेवा करके ही अपने आपको रीता कर दिया है, मेरे आरोग्यमें उसने अपना जरा-सा चिह्न रखनेके लिए एक कदम भी कभी आगे नहीं बढ़ाया, तुम्हारी यही बात रह-रहकर मुझे याद आ रही है। संभव है कि अत्यन्त स्नेह मुझसे झिलता नहीं, इसलिए,—अथवा यह भी सम्भव है कि स्नेहका जो रूप एक दिन तुम्हारी आँखों और मुखड़ेपर देखा था, उसीके लिए,—सम्पूर्ण चित्त उन्मुक्त हो गया है। फिर भी, तुम्हें और एक बार आँखोंसे बिना देखे ठीक तरहसे कुछ भी समझमें नहीं आ रहा है।'

साहबकी चिट्ठी भी खतम कर डाली। एक बार सचमुच ही उन्होंने मेरा बड़ा उपकार किया था। इसके लिए उन्हें अनेक धन्यवाद दिये। प्रार्थना कुछ भी नहीं की, मगर एक लम्बे अरसेके बाद सहसा गले पड़कर चिट्ठीमें इस तरह धन्यवाद देनेका आडम्बर रचकर मैं अपने आप ही शरमाने लगा। पता लिखकर चिट्ठी लिफाफेमें बन्द करते हुए देखा कि वक्त निकल गया। इतनी जल्दी करनेपर भी चिट्ठियाँ डाकमें नहीं डाली जा सकीं; पर इससे मन क्षुण्ण न होकर मानो शान्तिका अनुभव करने लगा। सोचने लगा, यह अच्छा ही हुआ कि कल फिर एक बार पढ़ लेनेका समय मिल जायगा।

रतनने आकर जताया कि कुशारी-गृहिणी आई हैं, और लगभग साथ ही साथ उन्होंने भीतर प्रवेश भी किया। मैं जरा चंचल-सा हो उठा, बोला, "वे तो घरपर हैं नहीं, उनके लौटनेमें शायद शाम हो जायगी।"

"सो मुझे मालूम है" कहते हुए उन्होंने जंगलेके ऊपरसे एक आसन उतारा और स्वयं ही उसे जमीनपर बिछाकर उसपर बैठ गईं। कहने लगीं, "शाम ही क्यों, लौटनेमें करीब करीब रात ही हो जाती होगी।"

लोगोंके मुँहसे सुना था कि धनाढ्यकी स्त्री होनेसे वे अत्यन्त दाम्भिक हैं। किसीके घर ऐसी जाती-आती नहीं। इस घरके विषयमें भी उनका व्यवहार लगभग ऐसा ही है,—कमसे कम इतने दिनोंसे उन्होंने घनिष्ठता करनेके लिए कोई उत्सुकता प्रकट नहीं की। इसके पहले सिर्फ दो बार और आई थीं। मालिकोंका घर होनेसे एक बार वे खुद ही चली आई थीं और एक बार निमंत्रणमें आई थीं। परन्तु आज वे कैसे और क्यों सहसा अपने आप आ पहुँचीं, और यह जानते हुए भी कि घरमें कोई नहीं है,—मैं कुछ सोच न सका।

वे आसनपर बैठकर बोलीं, "आजकल छोटी बहूके साथ तो एकदम एक-आत्मा हो रही हैं।"

अनजानमें उन्होंने मेरे व्यथाके स्थानपर ही चोट की, फिर भी मैंने धीरेसे कहा, "हाँ, अकसर वहीं जाया करती हैं।" उन्होंने कहा, "अकसर? रोज रोज! प्रत्येक दिन! मगर छोटी बहू भी कभी आपके घर आती हैं? एक दिनके लिए भी नहीं। मान्यका मान रक्खे ऐसी लड़की ही नहीं है सुनन्दा!" यह कहकर वे मेरे चेहरेकी तरफ देखने लगीं। मैंने एकके नित्य जानेकी बात ही सिर्फ सोची है, किन्तु दूसरेके आनेकी बात तो कभी मेरे मनमें उठी तक नहीं; इसलिए उनकी बातसे सहसा मुझे एक धक्का-सा लगा। मगर उसका उत्तर क्या देता? सिर्फ इतना ही समझमें आया कि इनके आनेका उद्देश्य कुछ साफ हो गया और एक बार ऐसा भी मालूम हुआ कि झूठा संकोच और आँखोंका लिहाज छोड़-छाड़कर कह दूँ कि 'मैं अत्यन्त निरुपाय हूँ, इसलिए इस अक्षम व्यक्तिको शत्रु-पक्षके विरुद्ध उत्तेजित करनेसे कोई लाभ नहीं।' कहनेसे, क्या होता, सो नहीं जानता, परन्तु न कहनेका नतीजा यह निकला कि साराका सारा उत्ताप और उत्तेजना उनकी आँखोंकी पलकोंपर प्रदीप्त हो उठी। और कब, किसके क्या हुआ था, और किस तरह वह सम्भव हुआ था, इसीकी विस्तृत व्याख्यामें वे अपने श्वशुर-कुलका दसेक सालका इतिहास लगभग रोजनामचेकी तरह अनर्गल बकती चली गईं।

उनकी कुछ बातें सुननेके बाद ही मैं न-जाने कैसा अन्य-मनस्क-सा हो गया था। इसका कारण भी था। मैंने सोचा था कि इनकी बातोंमें सिवा इसके कि एक तरफ अपने पक्षका स्तुति-वाद,—दया, दाक्षिण्य, तितिक्षा आदि जो कुछ

भी शास्त्रोक्त सद्गुणावली मनुष्य-जन्ममें सम्भव हो सकती है, उन सबकी विस्तृत आलोचना,—और दूसरी तरफ उसके विपरीत जितना भी कुछ आरोप हो सकता है, मय सन, तारीख, महीना और अड़ोसी-पड़ोसियोंकी गवाहियोंके उन सबका विशद वर्णन हो, और हो ही क्या सकता है? शुरूमें थी भी यही बात,—परन्तु सहसा उनके कंठ-स्वरके आकस्मिक परिवर्तनसे उनकी तरफ मेरा ध्यान आकर्षित हुआ। मैंने जरा विस्मित होकर ही पूछा, " क्या हुआ है?" वे क्षण-भर मेरे चेहरेकी तरफ देखती रहीं, फिर रुँधे हुए गलेसे कहने लगीं, " होनेको अब बाकी क्या रहा बाबू? सुना है कि कल शायद देवरजी खुद हाटमें जाकर बेंगन बेच रहे थे!"

बातपर ठीकसे विश्वास नहीं हुआ और मन चंगा होता तो शायद हँस भी पड़ता। मैंने कहा, " अध्यापक आदमी ठहरे वे, अचानक बेंगन उन्हें मिल कहाँसे गये, और बेचने गये तो क्यों?"

कुशारी-गृहिणीने कहा, " उसी अभागिनकी बदौलत। घरमें ही शायद कुछ बेंगन पैदा हुए थे, इसीसे उन्हें बेचने भेज दिया हाटमें। इस तरह दुश्मनी निभानेसे भला गाँवमें कैसे टिका जा सकता है, बताइए?"

मैंने कहा, " मगर इसे दुश्मनी निभाना क्यों कह रही हैं? वे तो आपकी किसी भी बातमें हैं नहीं। तंगी आ गई है, यदि अपनी चीज़ बेचने गये, तो इसमें आपको शिकायत क्यों?"

मेरी बात सुनकर वे विह्वलकी भाँति मेरी ओर देखती रहीं, फिर बोलीं "अगर आपका यही फैसला है तो मुझे आगे कुछ भी कहनेको नहीं है, और न मालिकके सामने मेरी कोई फर्याद ही है,—मैं जाती हूँ।"

कहते-कहते अन्तमें जाकर उनका कंठ बिलकुल रुक-सा आया, यह देखकर मैंने धीरेसे कहा, "इससे तो बल्कि आप अपनी मालिकिनजीसे कहें तो ठीक हो, वे शायद आपकी बातें समझ भी सकेंगी, और आपका उपकार भी कर सकेंगी।"

वे सिर हिलाकर कह उठीं, " अब मैं किसीसे कुछ कहना भी नहीं चाहती, और किसीको मेरा उपकार करनेकी ज़रूरत भी नहीं।" यह कहकर सहसा उन्होंने अपने आँचलसे आँखे पोंछते हुए कहा, " शुरू-शुरूमें वे कहा करते थे कि महिने दो-महिने बीतने दो, आप ही लौट आएगा। उसके बाद हिम्मत बँधाया करते थे कि बनी न रहो और दो-एक महीने चुपचाप, सब सुधर

जायगा,—पर ऐसी ही झूठी आशा-आशामें यह दूसरा साल लगना चाहता है। लेकिन कल जब सुना कि आँगनमें लगे हुए बेंगन तक बेचनेकी नौबत आ गई, तब फिर किसीकी बातोंपर मुझे भरोसा न रहा। अभागी सारी गृहस्थीको तहस-नहस कर डालेगी, पर उस घरमें पाँव न रखेगी। बाबू, औरतकी जात ऐसी पत्थर-सी हो सकती है, यह मैंने कभी सपनेमें भी नहीं सोचा।"

वे फिर कहने लगीं, "वे उसे कभी नहीं पहिचान सके, मगर मैं पहिचान गई थी। शुरू-शुरूमें मैं इसका-उसका नाम लेकर छिपा-छिपाकर चीज-वस्त भेजा करती थी, वे कहा करते थे कि सुनन्दा जान-बूझकर ही लेती है,—लेकिन ऐसा करनेसे उनका दिमाग ठिकाने न आएगा। मैंने भी सोचा कि शायद ऐसा ही हो! मगर एक दिन सब भ्रम दूर हो गया। न मालूम कैसे उसे पता लग गया, सो मैंने जो कुछ भिजवाया था, सबका सब एक आदमीके सिरपर लादकर वह मेरे आँगनमें फेंक गई। मगर इससे भी उन्हें होश न आया,—मैं ही समझी।"

अब आकर उनके मनकी बात मेरी समझमें आई। मैंने सदय कंठसे कहा, "अब आप क्या करना चाहती हैं?—अच्छा, वे क्या आप लोगोंके विरुद्ध कोई बात या किसी तरहकी शत्रुता निभानेकी कोशिश कर रहे हैं?"

कुशारी-गृहिणीने फिर एक बार रोकर अपनी तकदीर ठोंकते हुए कहा, "फूटी तकदीर। तब तो कोई उपाय भी निकल आता। उसने हम लोगोंको ऐसा छोड़ दिया है कि मानो कभी उसने हमलोगोंको आँखोंसे देखा तक न हो, नाम भी न सुना हो। ऐसी कठोर, ऐसी पत्थर है वह! हम दोनोंको सुनन्दा अपने मा-बापसे भी ज्यादा चाहती थी; पर जिस दिनसे उसने सुना कि उसके जेठकी सम्पत्ति पापकी सम्पत्ति है, उसी दिनसे उसका सारा हृदय जैसे पत्थरका हो गया! पति-पुत्रको लेकर वह दिन-पर-दिन सूख-सूखके मर जायगी, पर उसमेंसे दमड़ी भी न छूएगी। लेकिन बताइए भला, इतनी बड़ी जायदाद क्या यों ही बहा दी जा सकती है, बाबू? वह ऐसी दया-माया-शून्य है,—बाल-बच्चोंके साथ बिना खाये-पीये भूखों भी मर सकती है, मगर हम तो ऐसा नहीं कर सकते।"

क्या जवाब दूँ, कुछ सोच न सका, सिर्फ आहिस्तेसे बोला, "अजीब औरत है।"

दिन उतरता जा रहा था, कुशारी-गृहिणी चुपचाप गरदन हिलाकर मेरी बातका समर्थन करती हुई उठ खड़ी हुईं। फिर सहसा दोनों हाथ जोड़कर कह उठीं, "सच कहती हूँ बाबू, इनके बीचमें पड़कर मेरी छातीके जैसे टुकड़े टुकड़े हुए जा रहे हैं। लेकिन, इधर सुननेमें आया है कि वह बहूजीका कहना बहुत मानती है,—कोई उपाय नहीं हो सकता? मुझसे तो अब सहा नहीं जाता।"

मैं चुप बना रहा। वे भी और कुछ न कह सकीं,—उसी तरह आँसू पोंछते पोंछते चुपचाप बाहर चली गईं।

१०

मनुष्यकी परलोककी चिन्तामें शायद पराई चिन्ताके लिए कोई स्थान नहीं; नहीं तो, मेरे खाने-पहरनेकी चिन्ता राजलक्ष्मी छोड़ सकती है, इतना बड़ा आश्चर्य संसारमें और क्या हो सकता है? इस गंगामाटीमें आये ही कितने दिन हुए होंगे, इन्हीं कुछ दिनोंमें सहसा वह कितनी दूर हट गई! अब मेरे खानेके बारेमें पूछने आता है रसोइया और मुझे खिलाने बैठता है रतन। एक हिसाबसे जान बची, पहलेकी-सी जिद्दा-जिद्दी अब नहीं होती। कमजोरीकी हालतमें अब ग्यारह बजेके भीतर न खानेसे बुखार नहीं आता। अब तो जो इच्छा हो वह, और जब चाहूँ तब, खाऊँ। सिर्फ रतनकी बार-बारकी उत्तेजना और महाराजकी सखेद आत्म-भर्त्सनासे अल्पाहारका मौका नहीं मिलता,—वह बेचारा म्लान मुखसे बराबर यही सोचा करता है कि उसके बनानेके दोषसे ही मेरा खाना नहीं हुआ। किसी तरह इन्हें सन्तुष्ट करके बिस्तरपर जाकर बैठता हूँ। सामने वही खुला जंगला, और वही ऊसर प्रान्तरकी तीव्र तप्त हवा। दोपहरका समय जब सिर्फ इस छायाहीन शुष्कताकी ओर देखते देखते कटना ही नहीं चाहता तब एक प्रश्न मुझे सबसे ज़्यादा याद आया करता है कि आखिर हम दोनोंका सम्बन्ध क्या है? प्यार वह आज भी करती है, इस लोकमें मैं उसका अत्यन्त अपना हूँ, परन्तु लोकान्तरके लिए मैं उसका उतना ही अधिक पराया हूँ। उसके धर्म-जीवनका मैं साथी नहीं हूँ, वहाँ मुझपर दावा करनेके लिए उसके पास कोई दलील नहीं,—हिन्दू घरानेकी लड़की होकर इस

बातको वह नहीं भूली है। सिर्फ यह पृथिवी ही नहीं,—इसके परे भी जो स्थान है, उसके लिए पाथेय सिर्फ मुझे प्यार करनेसे ही नहीं मिल सकेगा,—यह सन्देह शायद उसके मनमें खूब बड़े रूपमें हो उठा है।

वह रही इन बातोंको लेकर, और मेरे दिन कटने लगे इस तरह। कर्महीन, उद्देश्यहीन जीवनका दिवारम्भ होता है श्रान्तिमें, और अवसान होता है अवसन्न ग्लानिमें। अपनी आयुकी अपने ही हाथसे प्रतिदिन हत्या करते चलनेके सिवा मानो दुनियामें मेरे लिए और कोई काम ही नहीं है। रतन आकर बीच-बीचमें हुक्का दे जाता है, समय होनेपर चाय पहुँचा देता है,—बोलता-चालता कुछ नहीं। मगर उसका मुँह देखनेसे मालूम होता है कि वह भी अब मुझे कृपाकी दृष्टिसे देखने लगा है। कभी सहसा आकर कहता, "बाबूजी, जंगला बन्द कर दीजिए, लूकी लपट आती है।" मैं कह देता, "रहने दे।" मालूम होता, न-जाने कितने लोगोंके शरीरके स्पर्श और कितने अपरिचितोंके तप्त श्वासोंका मुझे हिस्सा मिल रहा है। हो सकता है कि मेरा वह बचपनका मित्र इन्द्रनाथ आज भी ज़िन्दा हो, और यह उष्ण वायु अभी तुरत ही उसे छूकर आई हो। सम्भव है कि वह भी मेरी ही तरह बहुत दिनोंके बिछुड़े हुए अपने सुख-दुःखके बाल्य साथीकी याद करता हो। और हम दोनोंकी वह अन्नदा-जीजी! सोचता, शायद इतने दिनोंमें उसके समस्त दुःखोंकी समाप्ति हो गई हो। कभी कभी ऐसा मालूम होता कि इसी कोणमें ही तो बर्मा देश है, हवाके लिए तो कोई रुकावट है नहीं, फिर कौन कह सकता है कि समुद्र पार होकर अभयाका स्पर्श भी वह मेरे पास तक बहाती हुई नहीं ले आ रही है! अभयाकी बात याद आते ही कुछ ऐसा हो जाता है कि सहजमें वह मेरे मनसे निकलना ही नहीं चाहती। रोहिणी भइया शायद इस वक्त कामपर गये हैं, और अभया अपने मकानका 'सदर दरवाज़ा बन्द करके शायद सिलाईके काममें लगी हुई है। दिनमें मेरी तरह वह सो नहीं सकती, शायद किसी बच्चेके लिए छोटी कँथड़ी, या उसी तरहकी किसी तकियेकी खोल, या ऐसा ही कोई अपनी गृहस्थीका छोटा-मोटा काम कर रही है।

छातीके भीतर जैसे तीर-सा जाकर चुभ जाता। युग-युगान्तरसे संचित संस्कार और युग-युगान्तरके भले-बुरे विचारोंका अभिमान मेरे रक्तके अन्दर भी तो

डोल-फिर रहा है,—फिर कैसे मैं उसे निष्कपट भावसे 'दीर्घायु हो' कहकर आशीर्वाद दूँ! परन्तु, मन तो शरम और संकोचके मारे एकबारगी छोटा हुआ जाता है!

काममें लगी हुई अभयाकी शान्त प्रसन्न छवि मैं अपनी हियेकी आँखोंसे देख सकता हूँ। उसके पास ही निष्कलंक सोता हुआ बालक है। मानो हालके खिले हुए कमलके समान शोभा और सम्पदसे, गंध और मधुसे, छलक रहा है! इस अमृत वस्तुकी क्या जगतमें सचमुच ही ज़रूरत न थी? मानव-समाजमें मानव-शिशुका सम्मान नहीं, निमंत्रण नहीं, स्थान नहीं, इसीसे क्या घृणा भावसे उसको दूर ही कर देना होगा? कल्याणके धनको ही चिर-अकल्याणमें निर्वासित कर देनेकी अपेक्षा मानव-हृदयका बड़ा धर्म क्या और है ही नहीं?

अभयाको मैं पहचानता हूँ। इतना-भर पानेके लिए उसने अपने जीवनका कितना दिया है, सो और कोई न जाने, मैं तो जानता हूँ। हृदयहीन बर्बरतासे सिर्फ अश्रद्धा और उपहास करनेसे ही संसारमें सब प्रश्नोंका जवाब नहीं हो जाता। भोग! अत्यन्त स्थूल और लज्जाजनक देहका भोग! हो भी सकता है! अभयाको धिक्कार देनेकी बात ज़रूर है!

बाहरकी गरम हवासे मेरी आँखोंके गरम आँसू पलक मारते ही सूख जाते। बर्मासे चले आनेकी बात याद आती। तबकी बात जब कि रंगूनमें मौतके डरसे भाई बहिनको और लड़का बापको भी ठौर न देता था, मृत्यु-उत्सवकी उद्दण्ड मृत्यु-लीला शहर-भरमें चालू थी,—ऐसे समय जब मैं मृत्यु-दूतके कंधेपर चढ़कर उसके घर जाकर उपस्थित हुआ, तब, नई जमाई हुई घर-गृहस्थीकी ममताने तो उसे एक क्षणके लिए भी दुबिधामें नहीं डाला! उस बातको सिर्फ मेरी आख्यायिकाकी कुछ पंक्तियाँ पढ़कर ही नहीं समझा जा सकता। मगर, मैं तो जानता हूँ कि वह क्या है! और भी बहुत ज़्यादा जानता हूँ। मैं जानता हूँ, अभयाके लिए कुछ भी कठिन नहीं है।—मृत्यु!—वह भी उसके आगे छोटी ही है। देहकी भूख, यौवनकी प्यास,—इन सब पुराने और मामूली शब्दोंसे उस अभयाका जवाब नहीं हो सकता। संसारमें सिर्फ बाहरी घटनाओंको अगल-बगल लम्बी सजाकर उससे सभी हृदयोंका पानी नहीं नापा जा सकता।

काम-धन्धेके लिए पुराने मालिकके पास अर्जी भेजी है, भरोसा है कि वह नामंजूर न होगी। लिहाजा फिर हम लोगोंकी मुलाकात होगी। इस अरसेमें

दोनों तरफ बहुत-सा अघटन घट गया है। उसका भार भी मामूली नहीं, परन्तु उस भारको उसने इकट्ठा किया है अपनी असाधारण सरलतासे और अपनी इच्छासे। और, मेरा भार इकट्ठा हुआ है उतनी ही बलहीनतासे और इच्छा-शक्तिके अभावसे। मालूम नहीं, इनका रंग और चेहरा उस दिन आमने-सामने कैसा दिखाई देगा।

अकेले दिन-भरमें जब मेरा जी हाँफने लगता, तब, दिन उतरनेके बाद जरा टहलने निकल जाता। पाँच-सात दिनसे यह टहलना एक आदतमें शुमार हो गया था। जिस धूल-भरे रास्तेसे एक दिन गंगामाटीमें आया था, उसी रास्तेसे किसी किसी दिन बहुत दूर तक चला जाता था। अन्यमनस्क भावसे आज भी उसी तरह जा रहा था, सहसा सामने देखा कि धूलका पहाड़-सा उड़ाता हुआ कोई घोड़ेपर सवार दौड़ा चला आ रहा है। डरकर मैं रास्ता छोड़कर किनारे उतर गया। सवार कुछ आगे बढ़ जानेके बाद रुका और लौटकर मेरे सामने खड़ा होकर बोला, "आपका ही नाम श्रीकान्त बाबू है न? मुझे पहिचाना आपने?

मैंने कहा, "नाम मेरा यही है, मगर आपको तो मैं पहिचान न सका।"

वह घोड़ेसे उतर पड़ा। मैली-कुचैली फटी साहबी पोशाक पहिन हुए उसने अपना पुराना सोलेका हैट उतारते हुए कहा, "मैं सतीश भरद्वाज हूँ। थर्ड क्लाससे प्रमोशन न मिलनेसे सर्वे स्कूलमें पढ़ने चला गया था, याद नहीं?"

याद आ गई। मैंने खुश होकर कहा, "कहते क्यों नहीं, तुम हमारे वही मेढ़क हो! यहाँ साहब बने कहाँ जा रहे हो?"

मेढ़कने हँसकर कहा, "साहब क्या अपने वश बना हूँ भाई! रेल्वे कन्स्ट्रकशनमें सब-ओवरसियरीका काम करता हूँ, कुली चरानेमें ही जिन्दगी बीती जा रही है, हैट-कोटके बिना गुजर कहाँ? नहीं तो, एक दिन वे ही मुझे चराकर अलग कर देते। सोपलपुरमें जरा काम था, वहींसे लौट रहा हूँ,—करीब एक मीलपर मेरा तम्बू है, साँइथियासे जो नई लाइन निकल रही है, उसीपर मेरा काम है। चलोगे मेरे डेरेपर? चाय पीकर चले आना।"

नामंजूर करते हुए मैंने कहा, "आज नहीं, और किसी दिन मौका मिला तो आऊँगा।"

उसके बाद मेढ़क बहुत-सी बातें पूछने लगा। तबीयत कैसी रहती है, कहाँ रहते हो, यहाँ किस कामसे आये हो, बाल-बच्चे कितने हैं, कैसे हैं, वगैरह वगैरह।

जवाबमें मैंने कहा, तबीयत ठीक नहीं रहती, रहता हूँ गंगामाटीमें, यहाँ आनेके बहुतसे कारण हैं, जो अत्यन्त जटिल हैं। बाल-बच्चा कोई नहीं है, लिहाजा यह प्रश्न ही निरर्थक है।

मेढ़क सीधा-सादा आदमी है। मेरा जवाब ठीक न समझ सकनेपर भी, दूसरेकी बातें सब समझनी ही चाहिए, ऐसा दृढ़ संकल्प उसमें नहीं है। वह अपनी ही बात कहने लगा। जगह स्वास्थ्यकर है, साग-सब्जी मिलती है, मछली और दूध भी कोशिश करनेपर मिल ही जाता है, पर यहाँ आदमी नहीं हैं, साथी-संगी कोई नहीं मिलता। फिर भी विशेष तकलीफ नहीं, कारण शामके बाद जरा नशा-वशा कर लेनेसे ही काम चल जाता है। साहब लोग कैसे भी हों, पर बंगालियोंसे बहुत अच्छे हैं,—टेम्परेरी तौरपर एक ताड़ीका शेड खोला गया है,—जितनी तबीयत आवे, पीओ। पैसे तो एक तरहसे लगते ही नहीं समझ लो,—सब अच्छा ही है,—कन्स्ट्रक्शनमें ऊपरी आमदनी भी है, और चाहूँ तो तुम्हारे लिए भी साहबसे कह-सुनकर आसानीसे एक नौकरी दिलवा सकता हूँ,—इसी तरहकी अपने सौभाग्यकी छोटी-बड़ी बातें करता रहा। फिर अपने गठियावाले घोड़ेकी लगाम पकड़े मेरे साथ साथ वह बहुत दूर तक बकता हुआ चला। बार बार पूछने लगा कि मैं कब तक उसके डेरेपर पधारूँगा, और मुझे भरोसा दिया कि पोड़ामाटीमें उसे अक्सर अपने कामसे जाना पड़ता है, लौटते वक्त वह किसी दिन मेरे यहाँ गंगामाटीमें जरूर हाजिर होगा।

इस दिन घर लौटनेमें मुझे ज़रा रात हो गई। रसोइयेने आकर मुझसे कहा कि भोजन तैयार है। हाथ-मुँह धोकर कपड़े बदलकर खाने बैठा ही था कि इतनेमें राजलक्ष्मीकी आवाज़ सुनाई दी। वह घरमें आकर चौखटपर बैठ गई, हँसती हुई बोली, "मैं पहलेसे कहे देती हूँ, तुम किसी बातपर ऐतराज़ न कर सकोगे।"

मैंने कहा, "नहीं, मुझे जरा भी ऐतराज़ नहीं।"

"किस बातपर, बिना सुने ही?"

मैंने कहा, "जरूरत समझो तो कह देना किसी वक्त।"

राजलक्ष्मीका हँसता चेहरा गम्भीर हो गया, बोली, "अच्छा।" सहसा उसकी निगाह पड़ गई मेरी थालीपर। बोली, "अरे भात खा रहे हो? जानते हो कि रातको तुम्हें भात मिलता नहीं,—तुम क्या अपनी बीमारी न अच्छी करने दोगे मुझे, यही तय किया है क्या?"

भात मुझे अच्छी तरह ही मिल रहा था, मगर इस बातके कहनेसे कोई लाभ नहीं। राजलक्ष्मीने तीव्र स्वरमें आवाज़ दी, "महाराज?" दरवाज़ेके पास महाराजके आते ही उसे थाली दिखाते हुए राजलक्ष्मीने पहलेसे भी अधिक तीव्र स्वरमें कहा, "यह क्या है? तुम्हें शायद हजार बार मना कर दिया है कि रातमें बाबूको भात न दिया करो,—जाओ, जुरमानेमें एक महीनेकी तनखा कट जायगी।" मगर, इस बातको सभी नौकर-चाकर जानते थे कि रुपयोंके रूपमें जुरमानेके कुछ मानी नहीं होते, लेकिन फटकारके लिहाजसे तो उसके मानी हैं ही! महाराजने गुस्सेमें आकर कहा, "घी नहीं है, मैं क्या करूँ?"

"क्यों नहीं है, सो मैं सुनना चाहती हूँ?"

उसने जवाब दिया, "दो तीन बार कहा है आपसे कि घी निबट गया है, आदमी भेजिए। आप न भेजें तो इसमें मेरा क्या दोष?"

घर-खर्चके लिए मामूली घी यहीं मिल जाता है, पर मेरे लिए आता है साँइथियाके पासके किसी गाँवसे। आदमी भेजकर मँगाना पड़ता है। घीकी बात या तो अन्यमनस्कताके कारण राजलक्ष्मीने सुनी नहीं, या फिर वह भूल गई। उसने पूछा, "कबसे नहीं है महाराज?"

"हो गये पाँच-सात दिन।"

"तो पाँच-सात दिनसे इन्हें भात खिला रहे हो?"

रतनको बुलाकर कहा, "मैं भूल गई तो क्या तू नहीं मँगा सकता था? इस तरह सभी मिलकर मुझे तंग करोगे?"

रतन भीतरसे अपनी माजीपर बहुत खुश न था। दिन-रात घर छोड़कर अन्यत्र रहने और खासकर मेरी तरफसे उदासीन हो जानेसे उसकी नाराजी हद तक पहुँच चुकी थी। मालिकिनके उलहनेके उत्तरमें उसने भले आदमीका-सा मुँह बनाकर कहा, "क्या जानूँ माजी, तुमने सुनी-अनसुनी कर दी तो मैंने सोचा कि बढ़िया कीमती घीकी शायद अब ज़रूरत न हो। नहीं तो भला पाँच-छै दिनसे मैं कमजोर आदमीको भात खाने देता?"

राजलक्ष्मीके पास इसका जवाब ही न था, इसलिए नौकरसे इतनी बड़ी चुभनेवाली बात सुनकर भी वह बिना कुछ जवाब दिये चुपकेसे उठकर चली गई।

रातको बिस्तरपर पड़े पड़े बहुत देरतक छटपटाते रहनेके बाद शायद कुछ झपकी-सी लगी होगी, इतनेमें राजलक्ष्मी दरवाजा खोलकर भीतर आई और मेरे पाँयतेके पास बहुत देरतक चुपचाप बैठी रही; फिर बोली, "सो गये क्या?"

मैंने कहा, "नहीं तो।"

राजलक्ष्मीने कहा, "तुम्हें पानेके लिए मैंने जितना किया है, उससे आधा भी अगर भगवानके लिए करती तो अब तक शायद वे भी मिल जाते। मगर मैं तुम्हें न पा सकी।"

मैंने कहा, "हो सकता है कि आदमीको पाना और भी कठिन हो।"

"आदमीको पाना?" राजलक्ष्मी क्षण-भर स्थिर रहकर बोली, "कुछ भी हो, प्रेम भी तो एक तरहका बन्धन है, शायद यह भी तुमसे नहीं सहा जाता,—आँसता है।"

इस अभियोगका कोई जवाब नहीं, यह अभियोग शाश्वत और सनातन है। आदिम मानव-मानवीसे उत्तराधिकार-सूत्रमें मिले हुए इस कलहका मीमांसक कोई नहीं है,—यह विवाद जिस दिन मिट जायगा उस दिन संसारका सारा रस और सारी मधुरता तीती ज़हर हो जायगी। इसीसे मैं उत्तर देनेकी कोशिश न करके चुप हो रहा।

परन्तु आश्चर्यकी बात यह है कि उत्तरके लिए राजलक्ष्मीने कोई आग्रह या ज़बरदस्ती नहीं की, जीवनके इतने बड़े सर्वव्यापी प्रश्नको भी वह मानो एक निमेषमें अपने-आप ही भूल गई। बोली, "न्यायरत्न महाराज किसी एक व्रतके लिए कह रहे थे,—पर ज़रा कठिन होनेसे सब उसे कर नहीं सकते, और इतनी सुविधा भी कितनोंके भाग्यमें जुटती है?"

असमाप्त प्रस्तावके बीचमें मैं मौन रहा; वह कहने लगी, "तीन दिन एक तरहसे उपास ही करना पड़ता है, सुनन्दाकी भी बड़ी इच्छा है,—दोनोंका व्रत एक ही साथ हो जाता,—पर—" इतना कहकर वह खुद ही ज़रा हँसकर बोली, "पर तुम्हारी राय हुए बिना कैसे—."

मैंने पूछा, "मेरी राय न होनेसे क्या होगा?"

राजलक्ष्मीने कहा, "तो फिर नहीं होगा।"

मैंने कहा, "तो इसका विचार छोड़ दो, मेरी राय नहीं है।"

"रहने दो,—मज़ाक मत करो।"

"मज़ाक नहीं, सचमुच ही मेरी राय नहीं है,—मैं मनाही करता हूँ।"

मेरी बात सुनकर राजलक्ष्मीके चेहेरेपर बादल घिर आये। क्षण-भर स्तब्ध रहकर वह बोली, "पर हम लोगोंने तो सब तय कर लिया है। चीज-वस्तु मँगानेके लिए आदमी भेज दिये हैं, कल हविष्य करके परसोंसे,—वाह, अब मनाही करनेसे कैसे होगा? सुनन्दाके सामने मैं मुँह कैसे दिखाऊँगी? —छोटे महाराज, वाह! यह सिर्फ तुम्हारी चालाकी है। मुझे झूठमूठ खिजानेके लिए,—नहीं, सो नहीं होगा, तुम बताओ, तुम्हारी राय है?"

मैंने कहा, "है। मगर तुम किसी दिन भी तो मेरी राय-गैररायकी परवाह नहीं करतीं लक्ष्मी, फिर आज ही क्यों अचानक मज़ाक करने चली आईं? मेरा आदेश तुम्हें मानना ही होगा, यह दावा तो मैंने तुमसे कभी किया नहीं।"

राजलक्ष्मीने मेरे पैरोंपर हाथ रखकर कहा, "अब कभी न होगा, सिर्फ अबकी बार खुशी मनसे मुझे हुक्म दे दो।"

मैंने कहा, "अच्छा। लेकिन तड़के ही शायद तुम्हें जाना पड़ेगा, अब और रात मत बढ़ाओ, सोने जाओ।"

राजलक्ष्मी नहीं गई, धीरे धीरे मेरे पैरोंपर हाथ फेरने लगी। जबतक सो न गया, घूम-फिरकर बार बार सिर्फ यही मालूम होने लगा कि वह स्नेह-स्पर्श अब नहीं रहा। वह भी तो कोई ज़्यादा दिनकी बात नहीं है, आरा स्टेशनसे जिस दिन वह मुझे उठाकर अपने घर लाई थी तब वह इसी तरह पाँवोंपर हाथ फेरकर मुझे सुलाना पसन्द करती थी। ठीक इसी तरह नीरव रहती थी, पर मुझे मालूम होता था कि उसकी दसों उँगलियाँ मानो दसों इन्द्रियोंकी सम्पूर्ण व्याकुलतासे नारी-हृदयका जो कुछ है सबका सब मेरे इन पैरोंपर ही उँड़ेले दे रही हैं। हालाँ कि मैंने चाहा नहीं था, माँगा नहीं था, और इसे लेकर ही कैसे क्या करूँगा, सो भी सोचकर तय नहीं कर पाया था। बाढ़के पानीके समान आते समय भी उसने राय नहीं ली, और शायद जाते समय भी, उसी तरह, मेरा मुँह न ताकेगी। मेरी आँखोंसे सहजमें आँसू नहीं गिरते, और प्रेमके लिए भिखमंगापन भी मुझसे करते नहीं

बनता। संसारमें मेरा कुछ भी नहीं है, किसीसे कुछ पाया भी नहीं है, 'दो दो' कहकर हाथ फैलाते हुए भी मुझे शरम आती है। किताबोंमें पढ़ा है, इसी बातपर कितना विरोध, कितनी जलन, कितनी कसक और मान-अभिमान,—न जाने कितना प्रमत्त पश्चात्ताप हुआ करता है,—स्नेहकी सुधा गरल हो उठनेकी न जाने कितनी विक्षुब्ध कहानियाँ हैं! जानता हूँ कि ये सब बातें झूठी नहीं हैं, परन्तु, मेरे मनका जो वैरागी तन्द्राच्छन्न पड़ा था, सहसा वह चौंककर उठ खड़ा हुआ, बोला, "छि छि छि!"

बहुत देर बाद, मुझे सो गया समझकर, राजलक्ष्मी जब सावधानीके साथ धीरेसे उठकर चली गई तब वह यह जान भी न पाई कि मेरे निद्राहीन निमीलित नेत्रोंसे आँसू झर रहे हैं। आँसू बराबर गिरते ही रहे, किन्तु, आजकी यह आयत्तातीत सम्पदा एक दिन मेरी ही थी, इस व्यर्थके हाहाकारसे अशान्ति पैदा करनेकी मेरी प्रवृत्ति न हुई।

११

सबेरे उठकर सुना कि बहुत तड़के ही राजलक्ष्मी नहा-धोकर रतनको साथ लेकर चली गई है। और यह भी खबर मिली कि तीन दिन तक उसका घर आना न होगा। हुआ भी यही। वहाँ कोई विराट् काण्ड हो रहा हो सो बात नहीं,—पर हाँ, दस-पाँच ब्राह्मण-सज्जनोंका आवागमन हो रहा है, और कुछ-कुछ खाने-पीनेका भी आयोजन हुआ है, इस बातका आभास मुझे यहीं बैठे बैठे अपने जंगलेमेंसे मिल रहा था। कौन-सा व्रत है, उसका कैसा अनुष्ठान है, उसके सम्पन्न करनेसे स्वर्गका मार्ग कितना सुगम होता है, यह मैं कुछ भी न जानता था, और जाननेके लिए ऐसा-कुछ कुतूहल भी न था। रतन रोज शामके बाद आया करता और कहता, "आप एक बार भी गये नहीं बाबूजी?"

मैं पूछता, "इसकी क्या कोई जरूरत है?"

रतन कुछ मुसीबतमें पड़ जाता। वह इस ढंगसे जवाब देता,—मेरा बिलकुल न जाना लोगोंकी निगाहमें कैसा लगता होगा। हो सकता है कि कोई समझ बैठे कि इसमें मेरी इच्छा नहीं है। कहा तो नहीं जा सकता!

नहीं, कहा कुछ भी नहीं जा सकता। मैं पूछता, "तुम्हारी मालिकिन क्या कहती हैं?"

रतन कहता, " उनकी इच्छा तो आप जानते ही हैं, आप नहीं रहते हैं तो उन्हें कुछ भी अच्छा नहीं लगता है। लेकिन क्या करें, कोई पूछता है तो कह देती हैं, कमजोर शरीर है, इतनी दूर पैदल आने-जानेसे तबीयत खराब होनेका डर है। और आके करेंगे ही क्या!"

मैंने कहा, " सो तो ठीक बात है। इसके अलावा तुम तो जानते हो रतन, कि इन सब पूजा-पाठ, व्रत-उपवास, धर्म-कर्मोंके बीच मैं बिलकुल ही अशोभन-सा दिखाई देता हूँ। याग-यज्ञके मामलोंमें मेरा ज़रा दूर-दूर ही रहना अच्छा है। ठीक है न?"

रतन हाँमें हाँ मिलाता हुआ कहता, " सो तो ठीक है!" मगर मैं राजलक्ष्मीकी तरफसे समझता था कि मेरी उपस्थिति वहाँ,—किन्तु जाने दो उस बातको।

सहसा एक जबरदस्त खबर सुननेमें आई। मालिकिनको आराम और सहूलियत पहुँचानेके बहाने गुमाश्ता काशीनाथ कुशारी महाशय सस्त्रीक वहाँ उपस्थित हुए हैं।

" कहता क्या है रतन, एकदम सस्त्रीक?"

" जी हाँ। सो भी बिना निमंत्रणके।"

समझ गया कि भीतर ही भीतर राजलक्ष्मीका कोई कौशल चल रहा है। सहसा ऐसा भी मालूम हुआ कि शायद इसीलिए उसने अपने घर न करके दूसरोंके घर यह सब इन्तज़ाम किया है।

रतन कहने लगा, " बड़ी बहूका बिनूको गोदमें लेकर रोना अगर आप देखते! छोटी बहूने खुद अपने हाथसे उनके पाँव धो दिये, खाना नहीं चाहती थीं सो अपने हाथसे आसन बिछाकर छोटे बच्चोंकी तरह उन्हें स्वयं खिलाया बैठकर। माजीकी आँखोंसे आँसू गिरने लगे, हाल देखकर बूढ़े कुशारी महाराज तो फूट-फूटकर रोने लगे,—मुझे तो ऐसा मालूम होता है, बाबू, काम-काज खतम हो जानेपर छोटी बहू अब उस खंडहरकी ममता छोड़-छाड़कर अपने मकानमें जाकर रहेंगी। यह अगर हो गया, तो गाँव-भरके सभी लोग बड़े खुश होंगे। और यह करामात है अपनी माजीकी ही, सो मैं बताये देता हूँ बाबूजी।"

सुनन्दाको जहाँ तक मैंने पहिचाना है, उससे इतनी बड़ी आशा मैं न कर सका; परन्तु, राजलक्ष्मीके ऊपरसे मेरा बहुत-सा अभिमान, शरतके मेघाच्छन्न

आकाशकी भाँति, देखते देखते हटकर न जाने कहाँ बिला गया और आँखोंके सामने बिलकुल स्वच्छ हो गया।

इन दोनों भाइयों और बहुओंका विच्छेद जिस तरह सत्य नहीं, उसी तरह स्वाभाविक भी नहीं। मनके भीतर जरा-सी खौंप न होनेपर भी जहाँ बाहरसे इतनी बड़ी फटन दिखाई दे रही है, उस फटेको ज़ोड़ देने लायक हृदय और कौशल जिसमें है, उस जैसा कलाकार और है कहाँ? इसी उद्देश्यसे कितने दिनोंसे वह गुप्तरूपसे उद्योग करती आ रही है, कोई ठीक है! मैंने एकाग्र हृदयसे आशीर्वाद किया कि उसकी यह सदिच्छा पूर्ण हो। कुछ दिनोंसे मेरे हृदयके एकान्त कोनेमें जो भार संचित हो रहा था, उसके बहुत-कुछ आज हलका हो जानेसे, आजका दिन मेरा बहुत अच्छी तरह बीता। कौन-सा शास्त्रीय व्रत राजलक्ष्मीने लिया है, मैं नहीं जानता; परन्तु, आज उसकी तीन दिनकी मियाद पूरी हो जायगी और कल उससे भेंट होगी, यह बात बहुत दिनों बाद फिर मानो मुझे नये रूपमें याद आ गई।

दूसरे दिन सबेरे राजलक्ष्मी आ न सकी, पर बहुत दुःखके साथ रतनके मुँहसे खबर भिजवाई कि ऐसा भाग्य है मेरा कि एक बार आके सूरत दिखा जाने तककी फुरसत नहीं,—दिन-मुहूर्त बीत जायगा। पास ही कहीं वक्रेश्वर नामका तीर्थ है, वहाँ जाग्रत देवता और गरम जलका कुण्ड है, उसमें अवगाहन स्नान करनेसे सिर्फ वही नहीं, उसके पितृ-कुल, मातृ-कुल और श्वशुर-कुलके तीन करोड़ जन्मोंके जो कोई जहाँ होंगे, सबका उद्धार हो जायगा। साथी मिल गये हैं, दरवाज़ेपर बैलगाड़ी तैयार है, यात्राका मुहूर्त हो ही रहा है। दो-एक बहुत जरूरी चीज़ें रतनने दरबानके हाथ भेज दीं। वह बेचारा जी छोड़कर दौड़ा चला गया। सुना कि लौटनेमें पाँच-सात दिन लगेंगे।

और भी पाँच-सात दिन! शायद अभ्यासके कारण ही हो, आज उसे देखनेके लिए मैं मन-ही-मन उन्मुख हो उठा था। परन्तु रतनके मुँहसे अकस्मात् उसकी तीर्थ-यात्राका समाचार सुनकर, निराशाके अभिमान या क्रोधके बदले, सहसा मेरा हृदय करुणा और व्यथासे भर उठा। प्यारी सचमुच ही सम्पूर्णतया निःशेष होकर मर गई है, उसके कृत-कर्मके दुःसह भारसे आज राजलक्ष्मीके सम्पूर्ण देह-मनमें जो वेदनाका आर्तनाद उच्छ्वसित हो उठा है, उसे रोकनेका रास्ता उसे ढूँढ़े नहीं मिल रहा है। यह जो अश्रान्त विक्षोभ है,—अपने जीवनसे दौड़कर

निकल भागनेकी यह जो दिग्विहीन व्याकुलता है, इसका क्या कोई अन्त नहीं? पिंजड़ेमें बन्द पक्षीकी तरह ही क्या वह दिन-रात अविश्राम सिर धुन-धुनकर मर मिटेगी? और उस पिंजड़ेकी लौह-शलाकाके समान मैं ही क्या चिर-काल उसका मुक्तिका द्वार घेरे रहूँगा? संसार जिसे किसी भी चीज़से किसी दिन बाँध न सका, उसी मेरे भाग्यमें ही क्या भगवानने अन्ततोगत्वा इतना बड़ा दुर्भोग लिख दिया है? मुझे वह सम्पूर्ण हृदयसे चाहती है। मेरा मोह उससे छुटाये नहीं छूटता। इसीका पुरस्कार देनेके लिए क्या मैं उसकी समस्त भावी सुकृतिके पैरोंकी बेड़ी बनकर रहूँगा?

मैंने मन-ही-मन कहा, 'मैं उसे छुट्टी दूँगा,—उस बारकी तरह नहीं,—अबकी बार, एकाग्र चित्तसे, अन्तःकरणके सम्पूर्ण आशीर्वादके साथ, हमेशाके लिए उसे मुक्ति दूँगा। और, हो सका तो उसके लौटनेके पहले ही मैं इस देशको छोड़कर चला जाऊँगा। किसी भी आवश्यकतापर, किसी भी बहाने, सम्पदा और विपदाके किसी भी चक्करमें अब उसके सामने न आऊँगा। एक दिन मेरे अपने ही अदृष्टने मुझे अपने इस संकल्पमें दृढ़ नहीं रहने दिया, परन्तु, अब मैं उसके आगे किसी भी तरह पराजय स्वीकार न करूँगा।'

मन-ही-मन बोला, 'अदृष्ट इसीका नाम है! एक दिन जब मैं पटनेसे बिदा हुआ, तब प्यारी अपने ऊपरके बरामदेमें चुपचाप खड़ी थी। उस समय उसके मुँहमें ज़बान न थी, नीरव थी; फिर भी, क्या उसके निरुद्ध अंतःकरणसे निकली हुई मुझे वापस बुलानेवाली आँसू-भरी पुकार रास्ते-भर मेरे कानोंमें बार बार नहीं गूँजती रही थी? परन्तु, मैं लौटा नहीं। देश छोड़कर सुदूर विदेशमें चला गया था, परन्तु, वह जो रूपहीन, भाषारहित, दुर्निवार आकर्षण मुझे रात-दिन अपनी ओर खींचने लगा, उसके निकट यह देश-विदेशका व्यवधान कितना-सा था? फिर एक दिन वापस आना पड़ा। बाहरवाले मेरे उस पराजयकी ग्लानिको ही देख सके, पर मेरे कंठकी अम्लानकान्ति जयमालापर उनकी निगाह न पड़ी।

ऐसा ही होता है। मैं जानता हूँ, निकट-भविष्यमें ही फिर एक दिन मेरी बिदाईकी घड़ी आ पहुँचेगी। उस दिन भी शायद वह उसी तरह नीरव ही बनी रहेगी, परन्तु, मेरी उस अन्तिम बिदाकी यात्रामें सम्पूर्ण मार्ग-व्यापी वह अभूतपूर्व निविड़ आह्वान शायद अब न सुनाई देगा।

मन-ही-मन सोचने लगा, 'यह जो रहनेका निमंत्रण समाप्त हो जाना ही सिर्फ़

बाकी बच रहता है, सो कैसी व्यथाकी वस्तु है ! फिर भी, इस व्यथाका कोई भागीदार नहीं, सिर्फ मेरे ही हृदयमें गढ़ा खोदकर इस निन्दित वेदनाको हमेशाके लिए अकेला रहना होगा। राजलक्ष्मीसे प्रेम करनेका अधिकार संसारने मुझे नहीं दिया; यह एकाग्र प्रेम, यह हँसना-रोना और मान-अभिमान, यह त्याग, यह निविड़ मिलन,—सब-कुछ लोक-समाजकी दृष्टिसे जैसे व्यर्थ है, उसी तरह आजका मेरा यह आसन्न विच्छेदका असह्य अन्तर्दाह भी बाहरवालोंकी दृष्टिसे अर्थहीन है। आज यही बात मुझे सबसे ज्यादा चुभने लगी कि एकका मर्मान्तिक दुःख जब कि दूसरेके लिए उपहासकी वस्तु हो जाती है, तो इससे बढ़कर ट्रेजिडी संसारमें और क्या हो सकती है ! फिर भी, होता यही है ! लोक-समाजमें रहते हुए भी जिस आदमीने लोकाचारको नहीं माना,—विद्रोह किया है, वह फ़रियाद भी करे तो किससे ? यह समस्या सनातन है, शाश्वत और प्राचीन है। सृष्टिके दिनसे लेकर आजतक यह एक ही प्रश्न बार बार घूमता हुआ चला आ रहा है, और भविष्यके गर्भमें भी, जहाँतक दृष्टि जाती है, इसका कोई समाधान दिखाई नहीं देता। यह अन्याय है,—अवाञ्छनीय है। तो भी, इतनी बड़ी सम्पदा,—इतना बड़ा ऐश्वर्य क्या मनुष्यके पास और कुछ है ? अबाध्य नर-नारीके इस अवाञ्छित हृदयावेगकी न जाने कितनी नीरव वेदनाओंके इतिहासको बीचमें रखकर युग-युगमें कितने पुराणों, कितनी कथाओं और कितने काव्योंके अभ्रभेदी सौध खड़े किये गये हैं, कोई ठीक है !

परन्तु आज अगर यह रुक जाय ? मन-ही-मन कहा, जाने दो। राजलक्ष्मीकी धर्ममें रुचि हो, उसके वक्रेश्वरका मार्ग सुगम हो, उसका मंत्रोच्चारण शुद्ध हो, आशीर्वाद करता हूँ कि उसका पुण्योपार्जनका मार्ग निरन्तर निर्विघ्न और निष्कंटक होता जाय। अपने दुःखका भार मैं अकेला ही ढोता रहूँगा।

दूसरे दिन नींद खुलनेके साथ ही साथ ऐसा मालूम हुआ, मानो गंगामाटीके इस घरसे, यहाँके गली-कूचों और खुले मैदानसे,—सबसे मेरे सभी बन्धन एक साथ शिथिल हो गये हैं। राजलक्ष्मी कब लौटेगी, कोई ठीक नहीं; मगर मेरा मन तो अब एक क्षण भी यहाँ रहना नहीं चाहता। नहानेके लिए रतनने ताकीद करना शुरू कर दिया है। कारण, जाते समय राजलक्ष्मी सिर्फ कड़ा हुक्म देकर ही निश्चिन्त न हो सकी थी, रतनसे उसने

अपने पैर छुवाकर सौगंद ले ली थी कि उसकी अनुपस्थितिमें मेरी तरफ़से ज़रा भी लापरवाही या अनियम न होने पायेगा। खानेका वक्त सबेरे ग्यारह बजे और रातको आठ बजेके भीतर तय हुआ है, और इसके लिए रतनको रोज घड़ी देखकर समय लिख रखना होगा। कह गई है कि लौटनेपर इसके लिए वह हर एकको एक एक महीनेकी तनखा इनाममें देगी। मैं बिस्तरपर पड़ा पड़ा ही जान रहा था कि रसोइया अपनी रसोईका काम खतम करके इधर-उधर डोल रहा है, और कुशारी महाशय सबेरा होते-न-होते नौकरके सिरपर साग-सब्जी, मछली, दूध वगैरह लादे स्वयं आ पहुँचे हैं। उत्सुकता अब किसी भी विषयमें नहीं थी,—अच्छी बात है, ग्यारह बजे और आठ बजे ही सही। मेरे कारण, एक महीनेके अतिरिक्त वेतनसे तुम लोग वंचित न होगे, यह निश्चित है।

कल रातको बिलकुल ही नींद नहीं आई थी, शायद इसीलिए आज खा-पीकर बिस्तरपर पड़ते ही सो गया।

नींद खुली करीब चार बजे! कुछ दिनोंसे मैं नियमित रूपसे घूमने निकल जाता था, आज भी हाथ-मुँह धोकर चाय पीकर निकल पड़ा।

दरवाजेके बाहर एक आदमी बैठा था, उसने मेरे हाथमें एक चिट्ठी दी। सतीश भरद्वाजकी चिट्ठी थी, किसीने बहुत मुश्किलसे एक पंक्ति लिखकर जताया है कि वह बहुत बीमार है। मैं न जाऊँगा तो वह मर जायगा।

मैंने पूछा, "क्या हुआ है उसे?"

उस आदमीने कहा, "हैज़ा।"

मैं खुश होकर बोला, "चलो।" खुश इसलिए नहीं हुआ कि उसे हैज़ा हुआ है; बल्कि, इस बातकी खुशी हुई कि कमसे कम कुछ देरके लिए तो घरसे सम्बन्ध छूटनेका मौका हाथ लगा और इसे मैंने बहुत बड़ा लाभ समझा।

एक बार सोचा कि रतनको बुलाकर कमसे कम उसे कह तो जाऊँ, पर उसकी अनुपस्थितिसे ऐसा न कर सका। जैसा खड़ा था वैसे ही चल दिया; घरके किसीको भी कुछ मालूम न हुआ।

लगभग तीन कोस रास्ता तय करनेके बाद सन्ध्याके समय सतीशके कैम्पपर पहुँचा। सोचा था कि रेल्वे कन्स्ट्रक्शनके इनूचार्ज 'एस० सी० बरदाज'के यहाँ बहुत-कुछ ऐश्वर्य दिखाई देगा, मगर वहाँ पहुँचकर देखा कि ईर्ष्या करने लायक

कोई भी बात नहीं है। छोटेसे एक छोलदारी डेरेमें वह रहता है, उसके पास ही पुआल और डाली-पत्तोंसे छाई हुई एक झोंपड़ी है, उसमें रसोई बनती है। एक हृष्ट-पुष्ट बाउरीकी लड़की आग जलाकर कुछ उबाल रही थी। वह मुझे अपने साथ तम्बूके भीतर ले गई।

इस बीचमें रामपुर हाटसे एक छोकरा-सा पंजाबी डॉक्टर आ पहुँचा था, मुझे सतीशका बाल्य-बन्धु जानकर मानो वह जी-सा गया। रोगीके बारेमें बोला, "केस सीरियस नहीं है, जानका कोई खतरा नहीं।" फिर कहने लगा, "मेरी ट्राली तैयार है, अभी रवाना न होनेसे हेड-क्वार्टर्स पहुँचनेमें बहुत ज़्यादा रात हो जायगी,—तकलीफका ठिकाना न रहेगा।" मेरा क्या होगा, यह उसके सोचनेका विषय नहीं। कब क्या करना होगा, इस बातका भी उपदेश दिया; और अपनी ठेलागाड़ीपर रवाना होते समय बैगमेंसे दो-तीन डिब्बी और शीशियाँ मेरे हाथमें देते हुए उसने कहा, "हैज़ा छूतकी बीमारी है। उस तलैयाका पानी काममें लानेके लिए मना कर दीजिएगा।" कहते-कहते उसने सामनेके एक मिट्टी निकाले हुए गढ़ेकी ओर इशारा किया, और फिर कहा, "और अगर आपको खबर मिले कि कुलियोंमेंसे किसीको हैज़ा हो गया है,—हो भी सकता है, तो इन दवाओंको काममें लाइएगा।" इतना कहकर रोगकी किस अवस्थामें कौन-सी दवा देनी होगी, यह सब भी उसने समझा दिया।

आदमी बुरा नहीं है, और दया-माया भी है। मुझे बार बार समझा सावधान कर गया कि अपने बाल्य-बन्धुकी तबीयतका हाल कल उसे जरूर मिल जाय, और कुलियोंपर भी निगाह रखनेमें भूल न हो।

यह अच्छा हुआ। राजलक्ष्मी गई बक्रेश्वरकी यात्रा करने, और नाराज़ होकर मैं निकला बाहर फिरने। रास्तेमें एक आदमीसे भेंट हो गई। बचपनका परिचय था उससे, इसलिए बाल्य-बन्धु तो है ही। हाँ, इतना जरूर है कि पन्द्रह-सोलह वर्षसे उससे भेंट नहीं हुई थी, इसलिए सहसा उसे पहचान न सका था। मगर इन दो-ही-चार दिनोंके अन्दर यह कैसी घोर घनिष्ठता हो गई! उसके हैज़ेके इलाजका भार, तीमारदारीकी जिम्मेवारी, और साथ ही उसके सौ-डेढ़-सौ मिट्टी खोदनेवाले कुलियोंकी रखवारीका भार,—यह तमाम आफत मुझपर ही आ टूटी! बच रहा सिर्फ उसका सोलेका हैट और टट्टू घोड़ा,—और शायद वह मज़दूरकी लड़की भी। उसकी मानभूमकी अनिर्वचनीय बाउरी भाषाका अधिकांश

मुझे खटकने लगा। सिर्फ एक बात मुझे नहीं खटकी, वह यह कि इन दस-ही-पन्द्रह मिनटोंके दर्म्यान, मुझे पाकर उसे बहुत कुछ तसल्ली हो गई। जाऊँ, अब इतनी कमी क्यों रक्खूँ, जाकर घोड़ेको एक बार देख आऊँ।

सोचा कि मेरी तकदीर ही ऐसी है। नहीं तो उसमें राजलक्ष्मी ही क्योंकर आती, और अभया ही मेरे जरिये अपने दुःखका बोझ कैसे ढुआती ? और यह मेढ़क और उसके कुलियोंका झुंड,—और किसी व्यक्तिके लिए तो यह सब झाड़ फेंकनेमें क्षण-भरकी भी देर न लगती। तब फिर मैं ही क्यों ज़िन्दगी-भर ढोता फिरूँ ?

तम्बू रेल-कम्पनीका है। सतीशकी निजी सम्पत्तिकी सूची मैंने मन-ही-मन बना ली। कुछ एनामेलके बरतन, एक स्टोव्ह, एक लोहेकी पेटी, एक चीड़का बॉक्स, और उसके सोनेकी कैम्बिसकी खाट,—जिसने बहुत ज्यादा इस्तेमाल होनेसे डोंगीका रूप धारण कर लिया था। सतीश होशियार आदमी है, इस खाटके लिए बिस्तरकी जरूरत नहीं पड़ती, कोई बिछौने जैसी चीज होनेसे ही काम चल जाता है, इसीसे सिर्फ एक रंगीन दरीके सिवा उसने और कुछ नहीं खरीदा। भविष्यमें हैज़ा होनेकी उसे कोई आशंका नहीं थी। कैम्बिसकी खाटपर तीमारदारी करनेमें बहुत ही असुविधा मालूम हुई; और जो एकमात्र दरी थी, सो बहुत ही गंदी हो चुकी थी। इसलिए, उसे नीचे ज़मीनपर सुलानेके सिवा और कोई चारा ही नहीं था।

मैं यत्परोनास्ति चिन्तित हो उठा। उस लड़कीका नाम था कालीदासी, मैंने उससे पूछा, " काली, कहीं किसीसे दो-एक बिछौने मिल सकते हैं ? "

कालीने जवाब दिया, " नहीं। "

मैंने कहा, " थोड़ा-सा पयाल-अयाल ला सकती हो ? "

कालीने चटसे हँसकर जो कहा, उसका मतलब यह था कि यहाँ गाय भैंसें थोड़े ही हैं।

मैंने कहा, " तो बाबूको सुलाऊँ किसपर ? "

कालीने बिना किसी डरके ज़मीन दिखाकर कहा, " यहाँ। ये क्या बचनेवाले हैं ? "

उसके चेहरेकी तरफ देखनेसे मालूम हुआ कि ऐसा निर्विकल्प प्रेम संसारमें सुदुर्लभ है। मन ही मन बोला, काली, तुम भक्तिकी पात्र हो। तुम्हारी बातें सुन

लेनेपर फिर 'मोह-मुद्गर' पढ़नेकी जरूरत नहीं रहती। परन्तु मेरी वैसी विज्ञानमय अवस्था नहीं है। अभी तो यह ज़िन्दा है इसलिए कुछ तो बिछानेको चाहिए ही।

मैंने पूछा, "बाबूके पहिननेकी एक-आधा धोती-ओती भी नहीं है क्या?"

कालीने सिर हिला दिया। उसमें किसी तरहकी दुविधा या संकोचका भाव न था। वह 'शायद' नहीं कहती थी। बोली, "धोती नहीं है, पतलून है।"

माना कि पैन्ट साहबी चीज़ है, कीमती वस्तु है; पर उससे बिस्तरका काम लिया जा सकता है या नहीं, मेरी समझमें न आया। सहसा याद आया, आते वक्त नज़दीक ही कहीं एक फटा तिरपाल देखा था; मैंने कहा, "चलो चलें, दोनों मिलकर उस तिरपालको उठा लावें। पतलून बिछानेकी बजाय वह अच्छा रहेगा।"

काली राजी हो गई। सौभाग्यवश वह वहीं पड़ा था, लाकर उसीपर सतीशको सुला दिया। उसीके एक किनारेपर कालीने अत्यन्त विनयके साथ आसन जमाया, और देखते देखते ही वह वहीं सो गई। मेरी धारणा थी कि स्त्रियोंकी नाक नहीं बोलती पर कालीने उसे भी गलत साबित कर दिया।

मैं अकेला उस चीड़के बॉक्सपर बैठा रहा। इधर सतीशके हाथ-पैर बार बार ऐंठ रहे थे, सेंकने-तापनेकी जरूरत थी। बहुत बुलाने-पुकारनेपर कालीकी नींद टूटी, लेकिन उसने करवट बदलकर जताया कि लकड़ी-वकड़ी कुछ है नहीं, वह आग जलाये तो कैसे? खुद कोशिश करके देख सकता था, मगर प्रकाशके नाम पूँजी वही एक हरीकेन थी। फिर भी उसकी रसोईमें जाकर देखा तो मालूम हुआ कि कालीने झूठ नहीं कहा। उस एक झोपड़ीके सिवा वहाँ और कोई ऐसी चीज़ नहीं थी जो जलाई जा सके। मगर साहस न हुआ, कहीं प्राण निकलनेसे पहले ही उसका अग्नि-संस्कार न कर बैठूँ! कैम्प-खाट और चीड़का बॉक्स निकालकर उसीमें दियासलाई लगा कर आग जलाई, और अपना कुरता खोलकर उसकी पोटली-सी बनाके, उससे कुछ कुछ सेंक देनेकी कोशिश करता रहा, पर अपनेको सान्त्वना देनेके सिवा रोगीको उससे कुछ भी फायदा न हुआ।

रातके दो बजे होंगे या तीन, खबर आई कि दो कुलियोंको क़ै-दस्त शुरू हो गये हैं। उन लोगोंने मुझे डाक्टर-साहब समझ लिया था। उन्हींकी बत्तीकी सहायतासे दवा-दारू लेकर कुली-लाइन तक पहुँचा। वे माल-गाड़ीमें रहते थे।

छत नदारत, खुली गाड़ियाँ लाइनपर खड़ी हैं,—मिट्टी खोदनेकी जरूरत पड़नेपर इंजन उन्हें गन्तव्य स्थानपर खींच ले जाता है और वहीं वे कामपर जुट जाते हैं।

बाँसकी नसैनीके सहारे गाड़ीपर चढ़ा। एक तरफ एक बूढ़ा-सा आदमी पड़ा हुआ था, उसके चेहरेपर बत्तीका प्रकाश पड़ते ही समझ गया कि उसका रोग आसान नहीं है, बहुत दूर आगे बढ़ गया है। और दूसरी ओर पाँच-सात आदमी थे, स्त्री और पुरुष दोनों। कोई सोतेसे उठ बैठा है, तो किसीकी नींद ज्योंकी त्यों बनी हुई है।

इतनेमें उनका जमादार आ पहुँचा। वह बंगला अच्छी बोल लेता था। मैंने पूछा, "और एक रोगी कहाँ है?"

उसने अँधेरेकी ओर उँगली उठाकर दूसरा डिब्बा दिखाते हुए कहा, "वहाँ।"

फिर नसैनीके सहारे चढ़ना पड़ा, देखा कि वह स्त्री है। उमर पचीस-तीससे ज्यादा न होगी, दो बच्चे उसके पास पड़े सो रहे हैं। पति नहीं है,—वह पिछली साल अरकाटीके फेरमें पड़कर, दूसरी किसी अपेक्षाकृत कम उमरकी औरतके साथ, आसामके चायके बगीचेमें काम करने चला गया है।

इस गाड़ीमें भी और भी पाँच-छै स्त्री-पुरुष मौजूद थे, उन्होंने उसके पाषाण-हृदय पतिकी निन्दा करनेके सिवा रोगीकी कोई भी सहायता नहीं की। पंजाबी डाक्टरके उपदेशानुसार मैंने दोनों रोगियोंकी दवा दे दी और बच्चोंको स्थानान्तरित करनेकी भी कोशिश की, परन्तु किसीको भी मैं उनका भार सम्हालनेके लिए राजी न कर सका।

सबेरे तक और एक लड़केको हैज़ा शुरू हो गया, उधर सतीश भरद्वाजकी अवस्था भी उत्तरोत्तर खराब ही हो रही थी। बहुत खुशामद-बरामदके बाद एक आदमीको साँइथिया स्टेशनपर पंजाबी डाक्टरको खबर देनेके लिए भेजा। उसने शाम तक आकर खबर दी कि वे कहीं चले गये हैं रोगी देखने।

मेरे लिए सबसे बड़ी परेशानी यह थी कि साथमें रुपये नहीं थे। खुद तो कलसे उपवास ही कर रहा था। सोना नहीं, आराम नहीं,—खैर यह नहीं तो न सही, पर पानी वगैर पीये जीऊँ कैसे? सामनेकी तलैयाका पानी पीनेके लिए सबको मना कर दिया था, पर किसीने बात नहीं मानी। औरतोंने मन्द मुसकानके साथ बताया कि इसके सिवा पानी और है कहाँ डाक्टर साहब? कुछ दूरीपर

गाँवमें पानी था, पर जाय कौन? ये लोग मर सकते हैं, पर बिना पैसेके यह व्यर्थका काम करनेको राजी नहीं।

इसी तरह, इन्हीं लोगोंके साथ, मुझे माल-गाड़ीपर ही दो दिन और तीन रात रहना पड़ा। किसीको भी बचा न सका, सभी रोगी मर गये, मगर मरना ही इस स्थितिमें सबसे बड़ी बात नहीं। मनुष्य जन्म लेगा तो उसे मरना तो पड़ेगा ही; कोई दो दिन पहले तो कोई दो दिन पीछे;—इस बातको मैं बड़ी आसानीसे समझ सकता हूँ। बल्कि मेरी समझमें तो यह बात नहीं आती कि इस मोटी-सी बातके समझनेके लिए मनुष्यको इतने वैराग्य-साधन और इतने प्रकारके तत्त्व-विचारकी ज़रूरत आखिर क्यों होती है! लिहाज़ा, मनुष्यका मरना मुझे उतना चोट नहीं पहुँचाता जितना कि मनुष्यत्वकी मौत। इस बातको मानो मैं कह ही नहीं सकता।

दूसरे दिन भरद्वाजका देहान्त हो गया। आदमियोंकी कमीसे दाह-क्रिया न हो सकी, माता धरित्रीने ही उसे अपनी गोदमें स्थान दिया।

उधरका काम मिटाकर फिर माल-गाड़ीकी तरफ लौट आया। न आता तो अच्छा होता, मगर ऐसा कर न सका। जनारण्यके बीच रोगियोंको लेकर मैं बिलकुल अकेला बैठा था। सभ्यताके बहाने धनीका धन-लोभ मनुष्यको कितना हृदयहीन पशु बना सकता है, इस बातका अनुभव, इन दो ही दिनोंमें, मानो जीवन-भरके लिए मैंने इकट्ठा कर लिया।

प्रथम सूर्यके तापसे चारों ओर जैसे आग-सी बरसने लगी, उसीमें मैं तिरपालकी छायाके नीचे रोगियोंके साथ बैठा हूँ। छोटा बच्चा कैसी भयानक तकलीफसे तड़पने लगा, उसकी कोई हद नहीं,—एक घूँट पानी तक देनेवाला कोई नहीं। सरकारी काम ठहरा, मिट्टी खोदना बन्द नहीं हो सकता, और मज़ा यह कि उन्हींकी जातका उन्हींका लड़का है यह। गाँवोंमें देखा है कि हरगिज ये ऐसे नहीं हो सकते। मगर, यहाँ जो इन्हें अपने समाजसे, घरसे, सब तरहके स्वाभाविक बन्धनोंसे अलग करके सूर्योदयसे लेकर सूर्यास्ततक सिर्फ एक मिट्टी खोदनेके लिए ही इकट्ठा करके लाया गया है और माल-गाड़ीमें आश्रय दिया गया है, यहीं उनकी मानव-हृदय-वृत्ति ऐसी नेस्त-नाबूद हो गई है कि उसका एक कण भी बाकी नहीं। सिर्फ मिट्टी खोदना, मिट्टी ढोना और मज़दूरी लेना। सभ्य-समाजने शायद इस बातको अच्छी तरह समझ लिया है कि मनुष्यको बगैर पशु बनाये उससे पशुओंका काम ठीक तौरसे नहीं लिया जा सकता।

भरद्वाज चला गया, पर उसकी अमर-कीर्ति ताड़ीकी दूकान ज्यों-की त्यों अक्षय बची है। शामके वक्त क्या औरत और क्या मर्द, सभी कोई झुंड बाँधकर, ताड़ी पीकर घर लौटे। दोपहरका भात पानीमें भिगोकर रख दिया गया था, लिहाज़ा औरतें रसोई बनानेके झंझटसे भी फ़ारिग़ थीं। अब भला कौन किसकी सुनता है? जमादारकी गाड़ीसे ढोल और मजीरेके साथ संगीत-ध्वनि सुनाई देने लगी। कब तक वह खतम होगी, सो मेरी समझमें न आया। और, किसीके लिए उन्हें कोई फिकर नहीं जो सोचते सोचते सिरमें दर्द होने लगे। मेरे ठीक पासके ही डब्बेमें एक औरतके शायद दो प्रणयी आ जुटे थे; रात-भर उनकी उद्दाम प्रेम-लीला, बिना किसी विश्रामके, समान गतिसे चलती रही। इधर, इस डब्बेमें एक हज़रत कुछ ज़्यादा चढ़ा गये थे; वह ऐसे ऊँचे शोर-गुलके साथ अपनी स्त्रीसे प्रणयकी भीख माँगने लगे कि मारे शरमके मैं गड़ गड़ गया। दूरके एक डब्बेमें एक स्त्री रह-रहकर और कराह-कराह कर विलाप कर रही थी। उसकी मा जब दवा लेने आई, तो पता लगा कि कामिनीके बच्चा होनेवाला है। लज्जा नहीं, शरम नहीं, छिपाने लायक इनके यहाँ कहीं भी कुछ नहीं,—सब खुला हुआ, सब अनढका, अनावृत। जीवन-यात्राकी अबाध गति बीभत्स प्रकटतामें अप्रतिहत वेगसे चली जा रही है! सिर्फ मैं ही एक अलग था। मृत्यु-लोककी आसन्न यात्री मा और उसके बच्चेको लिए इस गभीर अन्धकारमय रात्रिमें अकेला बैठा हुआ हूँ।

लड़केने माँगा "पानी।"

उसके मुँहपर झुककर मैंने कहा, "पानी नहीं है बेटा, सबेरा होने दो।"

बच्चेने गरदन हिलाकर कहा, "अच्छा।" उसके बाद वह आँखें मींचकर चुप हो गया।

प्यास बुझानेको पानी नहीं था, पर मेरी आँखें अपनेको फाड़-फाड़कर पानी बहाने लगीं। हायरे हाय! सिर्फ मानवकी सुकुमार हृदय-वृत्ति ही नहीं, अपनी सुदुःसह यातनाके प्रति भी यह कैसी भयानक और असीम उदासीनता है! यही तो पशुता है! यह धैर्य-शक्ति नहीं, बल्कि जड़ता है। यह सहिष्णुता मानवतासे बहुत नीचेके स्तरकी वस्तु है!

हमारे डब्बेके और सभी लोग बेफिक्र सो रहे हैं। कालिख-लगी हरीकेनके अत्यन्त मलिन प्रकाशमें भी मैं स्पष्ट देख रहा था कि मा और लड़के दोनोंकी ही सारी देह अकड़ी जा रही है। मगर मेरे करने लायक अब और था ही क्या!

सामने काले आकाशका बहुत-सा हिस्सा सप्तर्षिमण्डलके तेजसे चमक रहा है, उस तरफ देखकर मैं वेदना, क्षोभ और निष्फल नश्वात्तापमें बार बार शाप देने लगा, 'आधुनिक सभ्यताके वाहन हो तुम लोग,—तुम मर जाओ। मगर जिस निर्मम सभ्यताने तुम लोगोंको ऐसा बना डाला है, उसे तुम लोग हरगिज क्षमा न करना। अगर ढोना ही है, तो तुम उसे ढोते ढोते, खूब तेजीके साथ, रसातल तक पहुँचा दो।'

१२

सबेरे खबर मिली कि और भी दो जने बीमार पड़े हैं। मैंने दवा दी, और जमादारके सॉंइथिया खबर भेजी। आशा की कि इस बार अधिकारियोंका आसन डिगेगा।

नौ बजेके करीब लड़का मर गया। अच्छा ही हुआ। यही तो इनका जीवन है!

सामनेके मैदानकी पगडंडीसे दो भले आदमी छतरी लगाये जा रहे थे। मैंने उनके पास जाकर पूछा, "यहाँसे गाँव कितनी दूर है?"

जो वृद्ध थे, उन्होंने सिरको ज़रा ऊँचा करके कहा, "वह रहा।"

मैंने पूछा, "खाने-पीनेकी चीज़ कुछ नहीं मिलती है?"

दूसरे आदमीने आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा, "मिलती नहीं कैसे! शरीफोंका गाँव है, चावल, दाल, घी, तेल, तरीतरकारी जो चाहिए, लीजिए। कहाँसे आ रहे हैं आप? आपका निवास? महाशय, आपकी—?"

संक्षेपमें उनका कुतूहल मिटाकर, सतीश भरद्वाजका नाम लेते ही वे रुष्ट हो उठे, वृद्धने कहा, "शराबी, बदमाश, जुआचोर!"

उसके साथीने कहा, "रेलके आदमी और कितने अच्छे होंगे! कच्चा पैसा आता था काफी, इसीसे न!"

प्रत्युत्तरमें सतीशकी ताज़ी कब्रका टीला दिखलाते हुए मैंने कहा, "अब उसके विषयमें आलोचना करना व्यर्थ है। कल वह मर गया, आदमियोंकी कमीसे उसकी दाह-क्रिया नहीं की जा सकी, यहीं गाड़ देना पड़ा है।"

"कहते क्या हैं! ब्राह्मणकी सन्तानको—"

"मगर उपाय क्या था?"

सुनकर दोनोंने क्षुब्ध होकर कहा कि "शरीफोंका गाँव है, ज़रा खबर मिलती तो कुछ न कुछ,—कोई न कोई, उपाय हो ही जाता।" एकने प्रश्न किया, "आप उनके कौन हैं?"

मैंने कहा, "कोई नहीं। मामूली परिचय था उनसे।" इतना कहकर, संक्षेपमें मैंने सारा किस्सा कह सुनाया। और कहा कि दो दिनसे कुछ खाया-पीया नहीं है, और उधर कुलियोंमें हैज़ा फैल रहा है, इसलिए उन्हें छोड़कर भी जाया नहीं जाता।

खाना-पीना नहीं हुआ सुनकर वे अत्यन्त उद्विग्न हुए, और साथ चले-चलनेके लिए बार बार आग्रह करने लगे। और एकने यह भी जता दिया कि इस भयानक व्याधिमें खाली-पेट रहना बड़ा ही खतरनाक है।

ज़्यादा कहनेकी जरूरत न हुई,—कहनेकी जरूरत थी भी नहीं,—भूख-प्यासके मारे मुरदा-सा हो रहा था, लिहाजा उनके साथ हो लिया। रास्तेमें इसी विषयमें बातचीत होने लगी। गँवई-गाँवके आदमी थे; शहरकी शिक्षा जिसे कहना चाहिए, वह इनमें नहीं थी; मगर मजा यह कि अँगरेजी राज्यकी खालिस पॉलिटिक्स या कूटनीति उनसे छिपी न थी। इस बातको तो मानो देशके लोगोंने यहाँकी मिट्टी, पानी, आकाश और हवासे ही अच्छी तरह संग्रह करके अपनी नस-नसमें मिला लिया है।

दोनोंने ही कहा, "सतीश भरद्वाजका इसमें कोई दोष नहीं; हम होते तो हम भी ठीक ऐसे ही हो जाते। कम्पनी-बहादुरके संसर्गमें जो आयेगा, वह चोर हुए बिना रह ही नहीं सकता। यह तो इनकी छूतकी करामात है।".

भूखे-प्यासे और बहुत ही थके हुए शरीरमें ज्यादा बात करनेकी शक्ति नहीं थी, इसलिए मैं चुप बना रहा। वे कहने लगे, "क्या जरूरत थी साहब, देशकी छाती चीरकर फिर एक रेल-लाइन निकालनेकी? कोई भी आदमी क्या इसे चाहता है? नहीं चाहता। मगर फिर भी होनी ही चाहिए। बावड़ी नहीं, तालाब नहीं, कुए नहीं, कहीं भी एक बूँद पानी पीनेको नहीं,—मारे गरमीके बछड़े बेचारे पानीकी कमीसे तड़प-तड़पकर मरे जाते हैं,—कहीं भी ज़रा पीनेको अच्छा पानी मिलता तो क्या सतीश बाबू इस तरह बेमौत मारे जाते? हरगिज नहीं। मैलेरिया, हैज़ा, हर तरहकी बीमारियोंसे लोग उजाड़ हो गये, मगर, काकस्य परिवेदना! किसीके कानोंपर जूँ तक नहीं रेंगती। सरकार तो सिर्फ

रेल-गाड़ी चलाकर,—कहाँ किसके घर क्या अनाज पैदा हुआ है, उसे चूसकर, चालान कर देना चाहती है। क्यों साहब, आपकी क्या राय है? ठीक है न?"

मेरे गलेमें आलोचना करने लायक जोर न था, इसलिए सिर्फ चुपकेसे गरदन हिलाकर हाँमें हाँ मिलता हुआ मैं मन-ही-मन हजारों बार कहने लगा,—यही बात है, यही बात है, यही बात है! सिर्फ इसीलिए ही तेतीस करोड़ नर-नारियोंका कंठ दबाकर विदेशी शासन-तंत्र भारतमें बना हुआ है। सिर्फ एक इसी वजहसे ही भारतके कोने कोने और संध-संधमें रेल-लाइन फैलानेकी कोशिशें चल रही हैं। व्यापारके नामपर धनिकोंके धन-भाण्डारोंको विपुलसे विपुलतर बना डालनेकी अविराम चेष्टासे कमजोरोंका सुख गया, शान्ति गई, रोटी गई, धर्म गया—उनके जीनेका रास्ता दिन-पर दिन संकीर्ण होता है, उनका बोझ असह्य होता जाता है,—इस सत्यको तो किसीकी दृष्टिसे छिपाया नहीं जा सकता।

वृद्ध सज्जनने मेरी इस मनकी बातमें ही मानो वाक्य जोड़कर कहा, "महाशय, बचपनसे मैं अपने ननिहालमें पला हूँ, पहले यहाँ बीस कोसके इर्द-गिर्द रेल-गाड़ी नहीं थी, तब चीज-बस्त इतनी सस्ती थी, और इतनी ज्यादा थी कि आपसे क्या बताऊँ! तब कोई चीज पैदा होती तो पाड़-पड़ोसी सभीको उसमेंसे कुछ न कुछ मिला करता था, और अब तो केलेका 'थोड़' और 'मोचा*',—आँगनमें लगे हुए शाककी दो पत्तियाँ भी, कोई किसीको नहीं देना चाहता। कहते हैं, रहने दो, साढ़े आठ बजेकी गाड़ीसे खरीददारोंके हाथ बेच देनेसे दो पैसे तो भी आ जायेंगे। अब तो देनेका नाम ही हो गया है फिजूलखर्ची। अरे साहब, कहाँ तक दुखड़ा रोया जाय, दुःखकी बात कहनेमें क्या है, पैसे बनानेके नशेमें स्त्री-पुरुष सबके सब बिलकुल ही नीच हो गये हैं।

"और खुद भी क्या जी भरके कुछ भोग सकते हैं? सिर्फ आत्मीय-स्वजन और पड़ोसियोंकी ही बात नहीं, खुद अपनेको भी सब तरफसे ठग-ठगकर रुपये पानेको ही मानो सबने अपना परमार्थ समझ लिया है।

"इन सब अनिष्टोंकी जड़ है यह रेलगाड़ी। नसोंकी तरह देशकी संध-संधमें रेलके रास्ते अगर न घुस पाते और खाने-पीनेकी चीज़ें चालान करके पैसा

---

* 'थोड़'=केलेके पेड़के काण्डका भीतरका कोमल हिस्सा।
'मोचा'=केलेकी छोटी छोटी फलियोंका गोभी-सा ढका हुआ समूह।

कमानेकी इतनी सहूलियतें न होतीं, और उस लोभसे आदमी अगर पागल न हुआ होता, तो इतनी बुरी दुर्दशा देशकी न होती।"

रेलके विरुद्ध मेरी शिकायतें भी कम नहीं हैं। वास्तवमें, जिस व्यवस्थासे मनुष्यके जीवित रहनेके लिए अत्यन्त आवश्यक खाद्य वस्तु प्रतिदिन छीनी जाकर शौकीनी कूड़े-करकटसे सारा देश भर उठता है, उसके प्रति तीव्र घृणा-भाव पैदा हुए बगैर रह ही नहीं सकता। खासकर गरीब आदमियोंका जो दुःख और जो हीनता मैं अपनी आँखोंसे देख आया हूँ, किसी भी युक्ति-तर्कसे उसका उत्तर नहीं मिलता; फिर भी, मैंने कहा, "ज़रूरतसे ज़्यादा बच रहने-वाली चीजोंको बरवाद न करके अगर बेचकर पैसा आवे, तो वह क्या बहुत खराब बात होगी?"

उन सज्जनने रंचमात्र ऊहापोह न करके निःसंकोच भावसे कहा, "हाँ, निहायत ही खराब बात है, खालिस अकल्याण है।"

उनका क्रोध और घृणा मेरी अपेक्षा बहुत ज्यादा प्रचंड थी। बोले, "आपकी यह बरबादकी धारणा विलायतकी आमद है, धर्मस्थान भारतवर्षकी भूमिमें इसका जन्म नहीं हुआ,—यहाँ हो ही नहीं सकता। महाशयजी, सिर्फ अपनी आवश्यकता ही क्या एकमात्र सत्य है? जिसके पास नहीं है, उसकी ज़रूरत मिटानेका क्या कोई मूल्य ही नहीं दुनियामें? अगर उतना बाहर भेजकर रुपये इकट्ठे न किये जायँ, तो वह बरबादी हुई, अपराध हुआ? यह निर्मम और निष्ठुर बात हम लोगोंके मुँहसे नहीं निकली, यह निकली है उनके मुँहसे जो विदेशसे आकर कमजोरोंके मुँहका कौर छीननेके लिए अपने देशव्यापी जालमें फन्देपर फन्दे डालते चले जा रहे हैं।"

मैंने कहा, "देखिए, देशका अन्न विदेश ले जानेका मैं पक्षपाती नहीं हूँ; परन्तु, मैं पूछता हूँ कि एकके बचे हुए अन्नसे दूसरेकी भूख मिटती रहे, यही क्या मंगलकी बात है? इसके सिवा, वास्तवमें विदेशसे आकर तो वे ज़बरदस्ती छीन नहीं ले जाते? पैसे देकर खरीद ही तो ले जाते हैं?"

उन सज्जनने तीखे कंठसे जवाब दिया, "हाँ, खरीदते तो हैं ही! वैसे ही, जैसे काँटेमें खुराक लगाकर पानीमें मछलियोंको सादर निमंत्रण देना!"

इस व्यंग्योक्तिका मैंने कुछ जवाब नहीं दिया। कारण, एक तो भूख-प्यास और थकावटके मारे वाद-विवादकी शक्ति नहीं थी; दूसरे, उनके वक्तव्यके साथ मूलतः मेरा कोई मत-भेद भी न था।

परन्तु, मुझे चुप रहते देख वे अकस्मात् ही अत्यन्त उत्तेजित हो उठे, और मुझे ही प्रतिपक्षी समझकर अत्यन्त सरगर्मीके साथ कहने लगे, " महाशयजी, उनकी उद्दाम वणिकबुद्धिके तत्त्वको ही आप सार सत्य समझ रहे हैं, परन्तु असलमें, इतनी बड़ी असत् वस्तु संसारमें दूसरी है ही नहीं। वे तो सिर्फ सोलह आनेके बदले चौंसठ पैसे गिन लेना जानते हैं,—सिर्फ देन-लेनको समझते हैं, और उन्होंने सीख रक्खा है सिर्फ भोगको ही मानव-जीवनका एक-मात्र धर्म मानना। इसीसे तो उनके दुनिया-भरके संग्रह और संचयके व्यसनने संसारके समस्त कल्याणको ढक रक्खा है। महाशयजी, यह रेल हुई, कलें हुईं, लोहेकी बनी सड़कें हुईं,—यही तो सब पवित्र Vested interest हैं,—इन्हीके भारी भारसे ही तो दुनियामें कहीं भी गरीबके लिए दम लेनेकी जगह नहीं।"

ज़रा ठहरकर वे फिर कहने लगे, " आप कह रहे थे कि एककी ज़रूरत पूरी होनेके बाद जो बच रहे, उसे अगर बाहर न भेजा जाता तो, या तो वह नष्ट होता, या फिर उसे अभाव-ग्रस्त लोग मुफ्त खा जाते। इसीको बरवादी कह रहे थे न आप?"

मैंने कहा, " हाँ, उसकी तरफसे वह बरबादी तो है ही।"

वृद्ध मेरे जवाबसे और भी असहिष्णु हो उठे। बोले " ये सब विलायती बोलियाँ हैं, नई रोशनीके अधार्मिक छोकरोंके हीले हवाले हैं। कारण, जब आप और भी ज़रा ज्यादा विचारना सीख जायँगे, तब, आपहीको सन्देह होगा कि वास्तवमें यही बरबादी है, या देशका अनाज विदेश भेजकर बैंकोंमें रुपये जमा करना ही सबसे बड़ी बरबादी है। देखिए साहब, हमेशासे ही हमारे यहाँ गाँव-गाँवमें कुछ लोग उद्यम-हीन, उपार्जन-उदासीन प्रकृतिके होते आये हैं, उनका काम ही था,—मोदी या मिठाईकी दूकानपर बैठकर शतरंज खेलना, मुरदे जलाने जाना, बड़े आदमियोंकी बैठकमें जाकर गाना-बजाना, पंचायती पूजा आदिमें चौधराई करना आदि। ऐसे ही कार्य-अकार्योंमें उनके दिन कट जाया करते थे। उन सबके घर खाने-पीनेका पूरा इन्तजाम रहता हो, सो बात नहीं; फिर भी बहुतोंके बचे हुए हिस्सेमेंसे ही किसी तरह सुख-दुःखमें उनकी गुजर हो जाया करती थी। आप लोगोंका, अर्थात् अँग्रेजी शिक्षितोंका, साराका सारा क्रोध उन्हींपर तो है? खैर जाने दीजिए, चिन्ताकी कोई बात नहीं, जो आलसी, ठलुए और पराश्रित लोग थे, उन

सबोंका लोप हो चुका। कारण, 'बचा हुआ' नामकी चीज़ अब कहीं बच ही नहीं रही, लिहाजा, या तो वे अन्नाभावसे मर गये हैं, या फिर कहीं जाकर किसी छोटी-मोटी दास-वृत्तिमें भरती होकर जीवन्मृतकी भाँति पड़े हुए हैं। अच्छा ही हुआ। मेहनत-मजदूरीका गौरव बढ़ा, 'जीवन-संग्राम' की सत्यता प्रमाणित हो गई,—परन्तु, इस बातको तो वे ही जानते हैं जिनकी मेरी-सी काफी उमर हो चुकी है, कि उनकी कितनी बड़ी चीज उठ गई! उनका क्या चला गया! इस 'जीवन-संग्राम'ने उनका लोप कर दिया है,—पर गावोंका आनन्द भी मानो उन्हींके साथ सहमरणको प्राप्त हो गया है।"

इस अन्तिम बातसे चौंककर मैंने उनके मुँहके ओर देखा। खूब अच्छी तरह गौरके साथ देखनेपर भी उनको मैंने अल्पशिक्षित साधारण ग्रामीण भले आदमीके सिवा और कुछ नहीं पाया,—फिर भी उनकी बात मानो अकस्मात् अपनेको अतिक्रम करके बहुत दूर पहुँच गई।

उनकी सभी बातोंको मैं अभ्रान्त समझकर अस्वीकार कर सका हूँ सो बात नहीं, परन्तु अंगीकार करनेमें भी मुझे वेदनाका अनुभव होने लगा। न जाने कैसा संशय होने लगा कि ये सब बातें उनकी अपनी नहीं हैं, मानो यह और किसी न दीखनेवालेकी जबानबन्दी है।

बहुत ही संकोचके साथ मैंने पूछा, "अगर कुछ खयाल न करें—"

"नहीं नहीं, खयाल किस बातका? कहिए?"

मैंने पूछा, "अच्छा, यह सब क्या आपकी अपनी अभिज्ञता है, अपने निजी चिन्तनका फल है?"

भले आदमी नाराज हो गये। बोले, "क्यों, ये क्या झूठी बातें हैं? इसमें एक अक्षर भी झूठ नहीं,—समझ लीजिएगा।"

"नहीं नहीं, झूठी तो मैं बताता नहीं, पर—"

"फिर 'पर' कैसी? हमारे स्वामीजी कभी झूठ नहीं बोलते। उनके समान ज्ञानी और है कोई?"

मैंने पूछा, "स्वामीजी कौन?"

उनके साथीने इसका जवाब दिया। बोले स्वामी वज्रानन्द। उमर कम है तो क्या, अगाध पंडित हैं, अगाध—"

"उन्हें आप लोग पहिचानते हैं क्या?"

"पहिचानते नहीं ? खूब। उन्हें तो अपना ही आदमी कहा जा सकता है। इन्हींके घर तो उनका मुख्य अड्डा है।" यह कहते हुए उन्होंने साथके भले आदमीको दिखा दिया।

वृद्ध महाशयने उसी वक्त संशोधन करते हुए कहा, "अड्डा मत कहो नरेन,—कहो, आश्रम। महाशय, मैं गरीब आदमी हूँ, जितनी बनती है, उनकी सेवा करता हूँ। मगर हाँ, हैं ऐसे जैसे विदुरके घर श्रीकृष्ण। मनुष्य तो नहीं, मनुष्यकी आकृतिमें देवता हैं।"

मैंने पूछा, "फिलहाल वे हैं कितने रोजसे आपके गाँवमें ?"

नरेन्द्रने कहा, "करीब दो महीने हुए होंगे। इस तरफ न तो कोई डाक्टर-वैद्य ही है और न स्कूल। इसीके लिए वे इतना उद्योग कर रहे हैं। और फिर खुद भी एक भारी डाक्टर हैं।"

अब साफ मेरी समझमें आ गया कि माजरा क्या है। ये अपने वही आनन्द हैं, साँइथिया स्टेशनपर भोजनादि कराकर राजलक्ष्मी जिन्हें परम आदरके साथ गंगामाटी ले आई थी। विदाईकी वे घड़ियाँ याद आ गईं। राजलक्ष्मी कैसी रो रही थी ! परिचय तो दो ही दिनका था, पर मालूम ऐसा होता था कि मानो वह न जाने कितने भारी स्नेहकी वस्तुको आँखोंसे ओझल करके किसी भयंकर विपत्तिके ग्रासकी ओर बढ़ाये दे रही है,—ऐसी ही उसकी व्यथा थी। वापस आनेके लिए उसकी वह कैसी व्याकुल विनय थी ! परन्तु आनन्द संन्यासी !—उसमें ममता भी नहीं, और मोह भी नहीं। नारी-हृदयकी वेदनाका रहस्य उसके लिए मिथ्याके सिवा और कुछ नहीं। इसीसे इतने दिन इतने पास रहकर भी बिना प्रयोजनके दिखाई देनेकी जरूरत उसने पल-भरके लिए भी महसूस नहीं की, और भविष्यमें भी शायद इस प्रयोजनका कारण न आयेगा। परन्तु राजलक्ष्मीको यह बात मालूम होते ही कितनी गहरी चोट पहुँचेगी, सो मैं ही जानता हूँ।

अपनी बात याद आ गई। मेरा भी विदाका मुहूर्त नजदीक आ रहा है,—जाना ही होगा, इस बातको प्रतिक्षण महसूस कर रहा हूँ,—राजलक्ष्मीके लिए मेरी जरूरत समाप्त हो रही है। सिर्फ इतना ही मेरी समझमें नहीं आता कि राजलक्ष्मीके उस दिनके दिनान्तका कहाँ और कैसे अवसान होगा !

गाँवमें पहुँचा । गाँवका नाम है महमूदपुर । वृद्ध यादव चक्रवर्तीने उसीका उल्लेख करके गर्वके साथ कहा, " नाम सुनके चौंकिएगा नहीं साहब, गाँवके चारों तरफ कहीं भी मुसलमानोंकी छाया तक नहीं पायेंगे आप । जिधर देखिए उधर ब्राह्मण, कायस्थ और भली जात । ऐसी जातकी यहाँ बस्ती ही नहीं जिसके हाथका पानी न चल सके । क्यों नरेन, कोई है ? "

नरेनने बार बार हाँमें हाँ मिलाते हुए सिर हिलाकर कहा,—"एक भी नहीं, एक भी नहीं । ऐसे गाँवमें हम लोग रहते ही नहीं । "

हो सकता है कि यह सच हो, पर इसमें इतने खुश होनेकी कौन-सी बात है, मेरी समझमें नहीं आया ।

चक्रवर्तीके घर वज्रानन्दसे भेंट हुई । हाँ, वे ही हैं । मुझे देखकर उन्हें जितना आश्चर्य हुआ उतना ही आनन्द ।

" अहा भाई साहब ! अचानक यहाँ कैसे ? " इतना कहकर आनन्दने हाथ उठाकर नमस्कार किया । इस नर-देहधारी देवताको सम्मानके साथ मेरा अभिवादन करते देख चक्रवर्ती विगलित हो उठे । अगल-बगल और भी बहुतसे भक्त थे, वे भी उठके खड़े हो गये । मैं कोई भी क्यों न होऊँ, इस विषयमें तो किसीको सन्देह ही न रह गया कि मैं मामूली आदमी नहीं हूँ ।

आनन्दने कहा, " आप पहलेसे कुछ लटे-लटेसे दिखाई देते हैं, भाई साहब ? "

इसका जवाब दिया चक्रवर्तीने । दो दिनसे मुझे आहार नहीं मिला, सोनेका कोई ठिकाना नहीं रहा, और किसी बड़े पुण्यसे मैं जिन्दा आ गया हूँ तथा कुलियोंमें महामारी आदिका ऐसा सुन्दर और सविस्तर वर्णन किया कि सुनकर मैं भी दंग रह गया ।

आनन्दने कोई खास व्याकुलता प्रकट नहीं की । जरा कुछ मुसकराकर औरोंके कान बचाकर कहा, " दो ही दिनमें इतना नहीं होता भाईसाहब, इसके लिए जरा कुछ समय चाहिए । क्या हुआ था ? बुखार ? "

मैंने कहा, " ताज्जुब नहीं । मैलेरिया तो है ही । "

चक्रवर्तीने आतिथ्यमें कोई त्रुटि नहीं की, खाना-पीना आज खूब अच्छी तरह ही हुआ ।

भोजनके बाद चलनेकी तैयारी करनेपर आनन्दने पूछा, " आप अचानक कुलियोंमें कैसे पहुँच गये ?

मैंने कहा, " दैवके चक्करसे । "

आनन्दने हँसते हुए कहा, " चक्कर तो है ही । गुस्सेमें आकर घरपर खबर भी न दी होगी शायद ? "

मैंने कहा, " नहीं,—मगर वह गुस्सेमें आकर नहीं । देना फिजूल है, समझकर ही नहीं दी । इसके सिवा आदमी ही कहाँ थे जो भेजता ? "

आनन्दने कहा, " यह एक बात जरूर है । परन्तु आपकी भलाई-बुराई जीजीके लिए फिजूल कबसे हो उठी ? वे शायद डर और फिक्रसे अधमरी हो गई होंगीं । "

बात बढ़ानेसे कोई लाभ नहीं । इस प्रश्नका मैंने फिर कुछ उत्तर ही नहीं दिया । आनन्दने ऐसा समझ लिया कि जिरहमें उन्होंने मेरा एकदम मुँह बन्द कर दिया । इसीसे, स्निग्ध-मृदु मुसकराहटके साथ कुछ देरतक आत्म-गौरव अनुभव करके वे बोले, " आपके लिए रथ तैयार है, मैं समझता हूँ शामके पहले ही घर पहुँच जायँगे । चलिए, आपको विदा कर आऊँ । "

मैंने कहा, " पर, घर जानेसे पहले मुझे जरा कुलियोंकी खबर लेने जाना है । "

आनन्दने आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा, " इसके मानी,—अभी गुस्सा उतरा नहीं है । पर मैं तो कहूँगा कि दैवके चक्करसे दुर्भोग जो भाग्यमें बदा था वह तो फल चुका । आप डाक्टर भी नहीं, साधु-बाबा भी नहीं, गृहस्थ आदमी हैं । अब, सचमुच ही अगर खबर लेने लायक कोई बात रह गई हो, तो उसका भार मुझपर सौंपकर आप निश्चिन्त मनसे घर चले जाइए । पर जाते ही मेरा नमस्कार जताकर कहिएगा कि उनका आनन्द अच्छी तरह है । "

दरवाजेपर बैलगाड़ी तैयार थी । गृहस्वामी चक्रवर्ती महाशयने हाथ जोड़कर अनुरोध किया कि फिर कभी इधर आना हो तो इस घरमें पद-धूलि जरूर पड़नी चाहिए । उनके आन्तरिक आतिथ्यके लिए मैंने सहस्र धन्यवाद दिया, परन्तु दुर्लभ पद-धूलिकी आशा न दे सका । मुझे बंगाल प्रान्त शीघ्र ही छोड़ जाना होगा, इस बातको मैं भीतर ही भीतर महसूस कर रहा था; लिहाजा, किसी दिन किसी भी कारणसे इस प्रान्तमें वापस आनेकी सम्भावना मेरे लिए बहुत दूर चली गई थी ।

गाड़ीमें बैठ जानेपर आनन्दने भीतरको मुँह बढ़ाकर धीरेसे कहा, "भाई साहब, इधरकी आब-हवा आपको माफकत नहीं आती, मेरी तरफसे आप जीजीसे कहिएगा कि पछाँहके आदमी ठहरे आप, आपको वे वहीं ले जायँ।"

मैंने कहा, "इस तरफ क्या आदमी जीते नहीं आनन्द ?"

प्रत्युत्तरमें आनन्दने रंचमात्र इतस्ततः न करके फौरन ही कहा, "नहीं। मगर इस विषयमें तर्क करके क्या होगा भाई साहब? आप सिर्फ मेरा हाथ जोड़-कर अनुरोध उनसे कह दीजिएगा। कहिएगा, आनन्द संन्यासीकी आँखोंसे देखे बिना इसकी सत्यता समझमें नहीं आ सकती।"

मैं मौन रहा। कारण, राजलक्ष्मीको उनका यह अनुरोध जताना मेरे लिए कितना कठिन है, इसे आनन्द क्या जाने ?

गाड़ी चल देनेपर आनन्दने फिर कहा, "क्यों भाई साहब, मुझे तो आपने एक बार भी आनेका निमन्त्रण नहीं दिया ?"

मैंने मुँहसे कहा, "तुम्हारे कामोंका क्या ठीक है, तुम्हें निमंत्रण देना क्या आसान काम है भाई ?"

मगर मन-ही-मन आशंका थी कि इसी बीचमें कहीं वे स्वयं ही किसी दिन पहुँच न जायँ। फिर तो इस तीक्ष्णबुद्धि संन्यासीकी दृष्टिसे कुछ भी छुपानेका उपाय न रहेगा। एक दिन ऐसा था जब इससे कुछ भी बनता-बिगड़ता न था, तब मन-ही-मन हँसता हुआ कहा करता, "आनन्द, इस जीवनका बहुत कुछ विसर्जन दे चुका हूँ, इस बातको अस्वीकार न करूँगा, परन्तु मेरे नुकसानके उस सहज हिसाबको ही तुम देख सके, और तुम्हारे देखनेके बाहर जो मेरे संचयका अंक एक बारगी संख्यातीत हो रहा सो! मृत्यु-पारका वह पाथेय अगर मेरा जमा रहे, तो मैं इधरकी किसी भी हानिकी परवाह न करूँगा।" लेकिन आज? कहनेके लिए बात ही क्या थी? इसीसे, चुपचाप सिर नीचा किये बैठा रहा, पल-भरमें मालूम हुआ कि ऐश्वर्यका वह अपरिमेय गौरव अगर सचमुच ही आज मिथ्या मरीचिकामें विलुप्त हो गया हो, तो इस गल-ग्रह, भग्न-स्वास्थ्य, अवाञ्छित गृहस्वामीके भाग्यमें अतिथि आह्वान करनेकी विडम्बना अब न घटे।

मुझे नीरव देखकर आनन्दने उसी तरह हँसते हुए कहा, "अच्छी बात है, नये तौरसे न कहिए तो भी कोई हर्ज नहीं, मेरे पास पुराने निमंत्रणकी पूँजी मौजूद है, मैं उसीके बलबूतेपर हाजिर हो सकूँगा।"

मैंने पूछा, " मगर यह काम कबतक हो सकेगा ? "

आनन्दने हँसते हुए कहा, " डरो मत भाई साहब, आप लोगोंके गुस्सा उतरनेके पहले ही पहुँचकर मैं आपको तंग न करूँगा,—उसके बाद ही पहुँचूँगा । "

सुनकर मैं चुप हो रहा। गुस्सा होकर नहीं आया, यह कहनेकी भी इच्छा न हुई।

रास्ता कम नहीं था, गाड़ीवान जल्दी कर रहा था। गाड़ी हँकनेसे पहले फिर उन्होंने एक बार नमस्कार किया और मुँह हटा लिया।

इस तरफ गाड़ी वगैरहका चलन नहीं, और इसीलिए उसके लिए किसीने रास्ता बनाकर भी नहीं रक्खा। बैलगाड़ी मैदान और खाली खेतोंमें होकर, ऊबड़-खाबड़ ऊसरको पार करती हुई अपना रास्ता तय करने लगी। भीतर अधलेटी हालतमें पड़े पड़े मेरे कानोंमें आनन्द संन्यासीकी बातें ही गूँजने लगीं। गुस्सा होकर मैं नहीं आया,—और यह कोई लाभकी चीज नहीं और लोभकी भी नहीं; परन्तु, बराबर खयाल होने लगा, कहीं यह भी अगर सच होता; किन्तु, सच नहीं, और सच होनेका कोई रास्ता ही नहीं। मन-ही-मन कहने लगा, 'गुस्सा मैं किसपर करूँगा? और किस लिए? उसने कुसूर क्या किया है? झरनेकी जलधाराके अधिकारके बारेमें झगड़ा हो सकता है, किन्तु उत्स-मुखमें ही अगर पानी खतम हो गया हो, तो सूखे जल-मार्गके विरुद्ध सिर धुनके जान दे दूँ किस बहाने?

इस तरह कितना समय बीत गया, मुझे होश नहीं। सहसा नालेमें गाड़ी ररक जानेसे उसके धक्कों-दचकोंसे मैं उठकर बैठ गया। सामनेको टाटका परदा उठाकर देखा कि शाम हो आई है। गाड़ी चलानेवाला लड़का-सा ही है, उमर शायद चौदह-पन्द्रह सालसे ज्यादा न होगी। मैंने कहा, " और, तू इतनी जगह रहते नालेमें क्यों आ पड़ा ? "

लड़केने अपनी गँवई-गाँवकी बोलीमें उसी वक्त जवाब दिया, " मैं क्यों पड़ने लगा, बैल अपने आप ही उतर पड़े हैं। "

" अपने आप ही कैसे उतर पड़े रे ! तू क्या बैल सम्हालना भी नहीं जानता ? "

" नहीं। बैल जो नये हैं। "

" बहुत ठकि ! पर इधर तो अँधेरा हुआ जा रहा है, गंगामाटी है कितनी दूर यहाँसे ? "

"सो मैं क्या जानूँ! गंगामाटी मैं कभी गया थोड़े ही हूँ!"

मैंने कहा, "कभी अगर आया ही नहीं, तो मुझपर ही इतना प्रसन्न क्यों हुआ भई? किसीसे पूछ क्यों नहीं लेता रे,—मालूम तो हो, कितनी दूर है।"

उसने जवाबमें कहा, "इधर आदमी हैं कहाँ? कोई नहीं है।"

लड़केमें और चाहे जो दोष हो, पर जवाब उसके जैसे संक्षिप्त वैसे ही प्राञ्जल हैं, इसमें कोई शक नहीं।

मैंने पूछा, "तू गंगामाटीका रास्ता तो जानता है?"

वैसा ही स्पष्ट जवाब। बोला, "नहीं।"

"तो तू आया क्यों रे?"

"मामाने कहा कि बाबूको पहुँचा दे। ऐसे सीधा जाकर पूरबको मुड़ जानेसे ही गंगामाटीमें जा पड़ेगा। जायगा और चला आयगा।"

सामने अँधेरी रात है, और अब ज्यादा देर भी नहीं है। अब तक तो आँखें मींचकर अपनी चिन्तामें ही मगन था। पर लड़केकी बातोंसे अब मुझे डर-सा मालूम होने लगा। मैंने कहा, "ऐसे सीधे दक्षिणकी बजाय उत्तरको जाकर पश्चिमको तो नहीं मुड़ गया रे?"

लड़केने कहा, "सो मैं क्या जानूँ?"

मैंने कहा, "नहीं जानता तो चल दोनों जने अँधेरेमें मौतके घर चले चलें। अभागा कहींका, रास्ता नहीं जानता था तो आया ही क्यों तू?—तेरा बाप है?"

"नहीं।"

"मा है?"

"नहीं, मर गई।"

"आफत चुकी। चल, तो फिर आज रातको उन्हींके पास चला चल। तेरे मामामें अकेली अकल ही ज्यादा नहीं, दया-माया भी काफी है।"

और कुछ आगे बढ़नेके बाद लड़का रोने लगा, उसने जता दिया कि अब वह आगे नहीं जा सकता।

मैंने पूछा, "फिर ठहरेगा कहाँ?"

उसने जवाब दिया, "घर लौट जाऊँगा।"

"पर ऐसे बेवक्त मेरे लिए क्या उपाय है ?"

पहले ही कह चुका हूँ कि लड़का अत्यन्त स्पष्टवादी है। बोला, "तुम बाबू उतर जाओ। मामाने कह दिया है, किराया सवा रुपया ले लेना। कमती देनेसे वे मुझे मारेंगे।"

मैंने कहा, "मेरे लिए तुम मार खाओगे, यह कैसी बात !"

एक बार सोचा कि इसी गाड़ीसे यथास्थान लौट जाऊँ। मगर न जाने कैसी तबीयत हुई, लौटनेका मन नहीं हुआ। रात हो रही है, अपरिचित स्थान है, गाँव-बस्ती कहाँ और कितनी दूर है, सो भी जाननेका कोई उपाय नहीं। सिर्फ सामने एक बड़ा-सा आम-कटहलका बाग देखकर अनुमान किया कि गाँव शायद बहुत ज्यादा दूर न होगा। कोई न कोई आश्रय तो मिल ही जायगा। और अगर नहीं मिला, तो उससे क्या ? न हो तो इस बारकी यात्रा ऐसे ही सही।

उतरकर किराया चुका दिया। देखा कि लड़केकी कोरम-कोर बात ही नहीं, अपनी बातपर अमली कार्रवाई करनेका ढंग भी बिलकुल स्पष्ट है। पलक मारते ही उसने गाड़ीका मुँह फेर दिया, और बैल भी घर लौटनेका इशारा पाते ही पल-भरमें आखोंसे ओझल हो गये।

१३

संध्या तो करीब खतम हो आई, पर रातके अन्धकारके घोर होनेमें अब भी कुछ विलम्ब था। इसी थोड़ेसे समयके भीतर किसी भी तरहसे हो, कोई न कोई ठौर-ठिकाना करना ही पड़ेगा। यह काम मेरे लिए कोई नया भी न था, और कठिन होनेके कारण मैं इससे डरा भी नहीं हूँ। परन्तु, आज उस आम-बागके बगलसे पगडंडी पकड़के जब धीरे धीरे आगे बढ़ने लगा, तो न जाने कैसी एक उद्विग्न लज्जासे मेरा मन भीतरसे भर आने लगा। भारतके अन्यान्य प्रान्तोंके साथ किसी समय घनिष्ठ परिचय था; किन्तु, अभी जिस मार्गसे चल रहा हूँ, वह तो बंगालके राढ़-देशका मार्ग है। इसके बारेमें तो मेरी कुछ भी जानकारी नहीं है। मगर यह बात याद नहीं आई कि सभी देश-प्रदेशोंके बारेमें शुरू-शुरूमें ऐसा ही अनभिज्ञ था, और ज्ञान जो कुछ प्राप्त किया है वह इसी तरह अपने आप अर्जन करना पड़ा है, दूसरे किसीने नहीं करा दिया।

असलमें, किस लिए उस दिन मेरे लिए सर्वत्र द्वार खुले हुए थे, और आज, संकोच और दुविधासे वे बन्द-से हो गये, इस बातपर मैंने विचार ही नहीं किया। उस दिनके उस जानेमें कृत्रिमता नहीं थी; मगर आज जो कुछ कर रहा हूँ, यह तो उस दिनकी सिर्फ नकल है। उस दिन बाहरके अपरिचित ही थे मेरे परम आत्मीय,—उनपर अपना भार डालनेमें तब किसी तरहकी हिचकिचाहट नहीं आई; पर वही भार आज व्यक्ति-विशेषपर एकान्तरूपसे पड़ जानेसे साराका सारा भार-केन्द्र ही अन्यत्र हट गया है। इसीसे आज अनजान अपरिचितोंके बीचमेंसे चलनेमें मेरे पैर हर कदमपर उत्तरोत्तर भारी होते चले जा रहे हैं। उन दिनोंकी वे सब सुख-दुःखकी धारणाओंसे आजकी धारणामें कितना भेद है, कोई ठीक है! फिर भी चलने लगा। अब तो मेरे अन्दर इस जंगलमें रात बितानेका न साहस ही रहा, और न शक्ति ही बाकी रही। आजके लिए कोई न कोई आश्रय तो ढूँढ़ निकालना ही होगा।

तक़दीर अच्छी थी, ज़्यादा दूर न चलना पड़ा। पेड़के घने पत्तोंमेंसे कोई एक पक्का मकान-सा दिखाई दिया। थोड़ी दूर घूमकर मैं उस मकानके सामने पहुँच गया।

था तो पक्का मकान, पर मालूम हुआ कि अब उसमें कोई रहता नहीं। सामने लोहेका गेट था, पर टूटा हुआ,—उसकी अधिकांश छड़ें लोग निकाल ले गये हैं। मैं भीतर घुस गया। खुला हुआ बरामदा है, बड़े बड़े दो कमरे हैं, एक बन्द है, और दूसरा जो खुला था उसके दरवाजेके पास पहुँचते ही उसमेंसे एक कंकाल-सार आदमी निकलकर मेरे सामने आ खड़ा हुआ। देखा कि उस कमरेके चारों कोनोंमें चार लोहेके गेट हैं,—किसी दिन उसमें गद्दे बिछे रहते थे, परन्तु काल-क्रमसे अब उनके ऊपरका टाट तक लुप्त हो गया है। बाकी बची हैं सिर्फ नारियलकी जटाएँ, सो भी बहुत कम। एक तिपाई है, कुछ टीन और कलईके बरतन हैं, जिनकी शोभा और मौजूदा हालत वर्णनके बाहर पहुँच चुकी है। जो अनुमान की थी वही बात है। यह मकान अस्पताल है। यह आदमी परदेसी है। नौकरी करने आया था सो बीमार पड़ गया है, पन्द्रह दिनसे वह यहाँका इन्डोर पेशेण्ट है। उस भले आदमीसे जो बातचीत हुई उसका एक चित्र नीचे दिया जाता है—

"बाबू साहब, चारेक पैसा देंगे?"

" क्यों, किसलिए ? "

" भूखके मारे मरा जाता हूँ बाबूजी, कुछ चबेना-अबेना खरीदके खाना चाहता हूँ। "

मैंने पूछा, " तुम मरीज आदमी हो, अंट-संट खानेकी तुम्हें मनाही नहीं है ? "

" जी नहीं। "

" यहाँसे तुम्हें खानेको नहीं मिलता ? "

उसने जो कुछ कहा, उसका सार यह है,—सबेरे एक कटोरा साबू दिये गये थे, सो कभीके खा चुका। तबसे वह गेटके पास बैठा रहता है,—भीखमें कुछ मिल जाता है तो शामको पेट भर लेता है, नहीं तो उपास करके रात काट देता है। एक डाक्टर भी हैं, शायद उन्हें बहुत ही थोड़ा हाथ-खर्चके लिए कुछ मिला करता है। सबेरे एक बार मात्र उनके दर्शन होते हैं। और एक आदमी मुकर्रर है, उसे कम्पाउण्डरीसे लेकर लालटेनमें तेल भरने तकका सभी काम करना पड़ता है। पहले तो एक नौकर था, पर इधर छै-सात महीनेसे तनखा न मिलनेके कारण वह भी चला गया है। अभी तक कोई नया आदमी भरती नहीं हुआ।

" मैंने पूछा, " झाड़ू-आड़ू कौन लगाता है ? "

उसने कहा, " आजकल तो मैं ही लगाता हूँ। मेरे चले जानेपर फिर जो नया रोगी आयेगा वह लगायेगा,—और कौन लगायेगा ? "

मैंने कहा, " अच्छा इन्तजाम है! अस्पताल यह है किसका, जानते हो ? "

वह भला आदमी मुझे उस तरफके बरामदेमें ले गया। छतकी कड़ीमें लगे हुए तारसे एक टीनकी लालटेन लटक रही थी। कम्पाउण्डर साहब उसे सिदौसे ही जलाकर काम खतम करके अपने घर चले गये हैं। दीवारमें एक बड़ा भारी पत्थर जड़ा हुआ है जिसपर सुनहरी अँगरेज़ी हरूफोंमें ऊपरसे नीचे तक सन् तारीख आदि खुदे हुए हैं,—यानी पूरा शिलालेख है। जिलेके जिन साहब मजिस्ट्रेटने अपरिसीम दयासे प्रेरित होकर इसका शिलारोपण या द्वारोद्घाटन सम्पन्न किया था, सबसे पहले उनका नाम-धाम है, और सबके नीचे है प्रशस्ति-पाठ। किसी एक रायबहादुरने अपनी रत्नगर्भा माताकी स्मृति-रक्षार्थ जननी जन्मभूमिपर इस अस्पतालकी प्रतिष्ठा कराई है। इसमें सिर्फ माता-पुत्रका ही वर्णन नहीं बल्कि ऊर्ध्वतन तीन-चार पीढ़ियोंका भी पूरा विवरण है। अगर इसे

छोटी-मोटी कुल-कारिका कहा जाय, तो शायद अत्युक्ति न होगी। इसके प्रतिष्ठाता महोदय राज-सरकारकी रायबहादुरीके योग्य पुरुष थे, इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं। कारण, रुपये बरबाद करनेकी ओरसे उन्होंने कोई त्रुटि नहीं की। ईंट और काठ तथा विलायती लोहेके बिल चुकानेके बाद अगर कुछ बाकी बचा होगा, तो वह साहब-शिल्पकारोंके हाथसे वंश-गौरव लिखवानेमें ही समाप्त हो गया होगा। डाक्टर और मरीजोंके औषध-पथ्यादिकी व्यवस्था करनेके लिए शायद रुपये भी न बचे होंगे और फुरसत भी न हुई होगी।

मैंने पूछा, "रायबहादुर रहते कहाँ हैं?"

उसने कहा, "ज़्यादा दूर नहीं, पास ही रहते हैं।"

"अभी जानेसे मुलाकात होगी?"

"जी नहीं, घरपर ताला लगा होगा, घरके सबके सब कलकत्ते रहते हैं।"

मैंने पूछा, "कब आया करते हैं, जानते हो?"

असलमें वह परदेसी है, ठीक ठीक हाल नहीं बता सका। फिर भी बोला कि तीनेक साल पहले एक बार आये थे,—डाक्टरके मुँह सुना था उसने। सर्वत्र एक ही दशा है, अतएव दुःखित होनेकी कोई खास बात नहीं थी।

इधर अपरिचित स्थानमें संध्या बीती जा रही थी और अँधेरा बढ़ रहा था; लिहाजा, रायबहादुरके कार्य-कलापोंकी पर्यालोचना करनेकी अपेक्षा और भी जरूरी काम करना बाकी था। उस आदमीको कुछ पैसे देकर मालूम किया कि पास ही चक्रवर्तियोंका एक घर मौजूद है। वे अत्यन्त दयालु हैं, उनके यहाँ कमसे कम रात-भरके लिए आश्रय तो मिल ही जायगा। वह खुद ही राजी होकर मुझे अपने साथ वहाँ ले चला; बोला, "मुझे तो मोदीकी दूकानपर जाना ही है, जरा-सा घूमकर आपको पहुँचा दूँगा, कोई बात नहीं।"

चलते चलते बातचीतसे समझ गया कि उक्त दयालु ब्राह्मण-परिवारसे उसने भी कितनी ही शाम पथ्यापथ्य संग्रह करके गुप्तरूपसे पेट भरा है।

दसेक मिनट पैदल चलकर चक्रवर्तीकी बाहरवाली बैठकमें पहुँच गया। मेरे पथप्रदर्शकने आवाज़ दी, "पंडितजी घरपर हैं?"

कोई जवाब नहीं मिला। सोच रहा था, किसी संपन्न ब्राह्मणके घर आतिथ्य ग्रहण करने जा रहा हूँ; परन्तु, घर-द्वारकी शोभा देखकर मेरा मन बैठ-सा गया। उधरसे कोई जवाब नहीं, और इधरसे मेरे साथीके अपराजेय अध्यवसायका कोई

अन्त नहीं। अन्यथा यह गाँव और यह अस्पताल बहुत दिन पहले ही उसकी रुग्ण आत्माको स्वर्गीय बनाकर छोड़ता। वह आवाज़पर आवाज लगाता ही रहा।

सहसा जवाब आया, "जा जा, आज जा। जा, कहता हूँ।"

मेरा साथी किसी भी तरह विचलित नहीं हुआ, बोला, "कौन आये हैं, निकलके देखिए तो सही।"

परन्तु मैं विचलित हो उठा। मानो चक्रवर्तीका परमपूज्य गुरुदेव घर पवित्र करने अकस्मात् आविर्भूत हुआ हूँ।

नेपथ्यका कंठ-स्वर क्षणमें मुलायम हो उठा, "कौन है रे भीमा?"

यह कहते हुए घर-मालिक दरवाजेके पास आये दिखाई दिये। मैली धोती पहने हुए थे, सो भी बहुत ही छोटी। अन्धकारप्राय संध्याकी छायामें उनकी उमर मैं न कूत सका, मगर बहुत ज़्यादा तो नहीं मालूम हुई। फिर उन्होंने पूछा, "कौन है रे भीमा?"

समझ गया कि मेरे संगीका नाम भीम है। भीमने कहा, "भले आदमी हैं, ब्राह्मण-महाराज हैं। रास्ता भूलकर अस्पतालमें पहुँच गये थे। मैंने कहा, 'डरते क्यों हैं, चलिए मैं पंडितजीके यहाँ पहुँचाये देता हूँ, गुरुकी-सी खातिरदारीमें रहिएगा।'

वास्तवमें भीमने अतिशयोक्ति नहीं की। चक्रवर्ती महाशयने मुझे परम समादरके साथ ग्रहण किया। अपने हाथसे चटाई बिछाकर बैठनेके लिए कहा, और तमाखू पीता हूँ या नहीं, पूछकर, भीतर जाकर वे खुद ही हुक्का भी लाये। बोले, "नौकर-चाकर सब बुखारमें पड़े हैं,—क्या किया जाय!"

सुनकर मैं अत्यन्त कुण्ठित हो उठा। सोचा, एक चक्रवर्तीके घरसे निकलकर दूसरे चक्रवर्तीके घर आ फँसा। कौन जानें, यहाँका आतिथ्य कैसा रूप धारण करेगा। फिर भी हुक्का हाथमें पाकर पीनेकी तैयारी कर रहा था कि इतनेमें सहसा भीतरसे एक तीक्ष्ण कण्ठका प्रश्न आया, "क्यों जी, कौन आदमी आया है?"

अनुमान किया कि यही घरकी गृहिणी हैं। जवाब देनेमें सिर्फ चक्रवर्तीका गला ही नहीं काँपा, मेरा हृदय भी काँप उठा।

उन्होंने झटपट कहा, "बड़े भारी आदमी हैं जी, बड़े-भारी आदमी।

अतिथि ब्राह्मण हैं,—नारायण ! रास्ता भूलकर आ पड़े हैं,—सिर्फ रात-भर रहेंगे,—भोर होनेके पहले, तड़के ही चले जायेंगे।"

भीतरसे जवाब आया, "हाँ हाँ, सभी कोई आते हैं रास्ता भूलकर ! मुँहजले अतिथियोंका तो नागा ही नहीं । घरमें न तो एक मुट्ठी चावल हैं, न दाल,—खिलाऊँगी क्या चूल्हेकी भूभड़ ?"

मेरे हाथका हुक्का हाथमें ही रह गया। चक्रवर्तीजीने कहा, "ओहो, तुम यह सब क्या बका करती हो ! मेरे घरमें दाल-चावलकी कमी ! चलो चलो, भीतर चलो, सब ठीक किये देता हूँ।"

चक्रवर्ती-गृहिणी भीतर चलनेके लिए बाहर नहीं आई थीं। बोलीं, "क्या ठीक कर दोगे, सुनूँ तो सही ? हैं तो सिर्फ मुट्ठी-भर चावल, सो बच्चोंके पेटमें भी तो राँधकर डालना है। उन बेचारोंको उपासा रखकर मैं उसे लीलने दूँगी ? इसका खयाल भी न लाना।"

माता धरित्री, फट जा, फट जा ! 'नहीं नहीं' कहके न-जाने क्या कहना चाहता था, परन्तु चक्रवर्तीजीके विपुल क्रोधमें वह न जाने कहाँ बह गया। उन्होंने 'तुम' छोड़कर फिर 'तू' कहना शुरू किया। और अतिथि-सत्कारके विषयको लेकर पति-पत्नीमें जो वार्तालाप शुरू हुआ, उसकी भाषा जैसी थी, गम्भीरता भी वैसी ही थी,—उसकी उपमा नहीं मिल सकती। मैं रुपये लेकर नहीं निकला था,—जेबमें थोड़े-से जो कुछ पैसे पड़े थे, वे भी खर्च हो चुके थे। कुरतेमें सिर्फ सोनेके बटन अलबत्ता थे। पर वहाँ कौन किसकी सुनता है ! व्याकुल होकर एक बार उठके खड़े होनेकी कोशिश करनेपर चक्रवर्तीजीने ज़ोरसे मेरा हाथ पकड़ लिया, और कहा, "आप अतिथि-नारायण हैं। विमुख होकर चले जायेंगे, तो मैं गलेमें फाँसी लगा लूँगा।"

गृहिणी इससे रंचमात्र भी भयभीत नहीं हुई, उसी वक्त चैलेञ्ज ऐक्सेप्ट करके बोलीं, "तब तो जी जाऊँ। भीख माँग-मूँगकर अपने बच्चोंका पेट तो भर सकूँगी।"

इधर मेरी लगभग हिताहित-ज्ञान-शून्य होनेकी नौबत आ पहुँची थी; मैं सहसा कह बैठा, "चक्रवर्तीजी, उसे न हो तो और किसी दिन सोच-विचारकर धीरे-सुस्ते लगाइएगा,—लगाना ही अच्छा है,—मगर, फिलहाल या तो मुझे

छोड़ दीजिए, और न हो तो मुझे भी एक फाँसीकी रस्सी दे दीजिए, उसमें लटककर आपको इस आतिथ्य-दायसे मुक्त कर दूँ।"

चक्रवर्तीजीने अन्तःपुरकी तरफ लक्ष्य करके ज़ोरसे चिल्लाकर कहा, "अब कुछ शिक्षा हुई ? पूछता हूँ, सीखा कुछ ?"

जवाब आया, "हाँ।"

और कुछ ही क्षण बाद भीतरसे सिर्फ एक हाथ बाहर निकल आया, उसने धम्म-से एक पीतलका कलसा जमीनपर धर दिया, और साथ ही साथ आदेश दिया, "जाओ, श्रीमन्तकी दुकानसे, इसे रखकर, दाल-चावल-घी-नमक ले आओ। जाओ! देखना कहीं वह हाथमें पाकर सब पैसे न काट ले।"

चक्रवर्ती खुश हो उठे। बोले, "अरे, नहीं नहीं, यह क्या बच्चेके हाथका लड्डुआ है ?"

चटसे हुक्का उठाकर दो-चार बार धुआँ खींचनेके बाद वे बोले, "आग बुझ गई। सुनती हो जी, जरा चिलम तो बदल दो, एक बार पीकर ही जाऊँ। गया और आया, देर न होगी।"

यह कहते हुए उन्होंने चिलम हाथमें लेकर भीतरकी ओर बढ़ा दी।

बस, पति पत्नीमें सन्धि हो गई। गृहिणीने चिलम भर दी, और पतिदेवने जी-भरके हुक्का पीया। फिर वे प्रसन्न चित्तसे हुक्का मेरे हाथमें थमाकर कलसा लेकर बाहर चले गये।

चावल आये, दाल आई, घी आया, नमक आया, और यथासमय रसोई-घरमें मेरी पुकार हुई। भोजनमें रंचमात्र भी रुचि नहीं थी, फिर भी चुपचाप उठकर उस ओर चल दिया। कारण, आपत्ति करना सिर्फ निष्फल ही नहीं बल्कि 'ना' कहनेमें खतरेकी भी आशंका हुई। इस जीवनमें बहुत बार बहुत जगह मुझे बिन-माँगे आतिथ्य स्वीकार करना पड़ा है। सर्वत्र ही मेरा समादर हुआ है, यह कहना तो झूठ होगा; परन्तु, ऐसा स्वागत भी कभी मेरे भाग्यमें नहीं जुटा था। मगर अभी तो बहुत सीखना बाकी था। जाकर देखा कि चूल्हा जल रहा है, और वहाँ भोजनके बदले केलेके पत्तोंपर चावल-दाल-आलू और एक पीतलकी हँड़िया रखी है।

चक्रवर्तीजीने बड़े उत्साहके साथ कहा, "बस, चढ़ा दीजिए हँड़िया, चटपट

हो जायगा सब। मसूरकी खिचड़ी, आलू-भात है ही, मजेकी होगी खानेमें। घी है ही, गरम गरम—"

चक्रवर्ती महाशयकी रसना सरस हो उठी। परन्तु मेरे लिए यह घटना और भी जटिल हो गई। मैंने, इस डरसे कि मेरी किसी बात या कामसे फिर कहीं कोई प्रलयकांड न उठ खड़ा हो, तुरंत ही उनके निर्देशानुसार हँड़िया चढ़ा दी। चक्रवर्ती-गृहिणी नेपथ्यमें छिपी खड़ी थीं। स्त्रीकी आँखोंसे मेरे अपटु हाथोंका परिचय छिपा न रहा। अब तो उन्होंने मुझे ही लक्ष्य करके कहना शुरू किया। उनमें और चाहे जो भी दोष हों, संकोच या आँखोंका लिहाज आदिका अति-बाहुल्य-दोष नहीं था, इस बातको शायद बड़ेसे बड़ा निन्दाकारी भी स्वीकार किये बिना न रह सकेगा। उन्होंने कहा, "तुम तो बेटा, राँधना जानते ही नहीं।"

मैंने उस वक्त उनकी बात मान ली, और कहा, "जी, नहीं।"

उन्होंने कहा, "वे कह रहे थे, परदेसी आदमी हैं, कौन जानेगा कि किसने राँधा और किसने खाया। मैंने कहा, सो नहीं हो सकता, एक रातके लिए मुट्ठीभर भात खिलाकर मैं आदमीकी जात नहीं बिगाड़ सकती। मेरे बाप अग्रदानी ब्राह्मण हैं।"

मेरी हिम्मत ही न हुई कि कह दूँ कि मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं, बल्कि इससे भी बढ़कर बड़े बड़े पाप मैं इसके पहले ही कर चुका हूँ,—क्योंकि, डर था कि इससे भी कहीं कोई उपद्रव न उठ खड़ा हो। मनमें सिर्फ एक ही चिन्ता थी कि किस तरह रात बीतेगी और कैसे इस घरके नागपाशसे छुटकारा मिलेगा। लिहाजा, उनके निर्देशानुसार खिचड़ी भी बनाई और उसका पिण्ड-सा बनाकर, घी डालकर,—उस तोहफेको लीलनेकी कोशिश भी की। इस असाध्यको मैंने किस तरह साध्य या सम्पन्न किया, सो आज भी मुझसे छिपा नहीं है। बार बार यही मालूम होने लगा कि चावल-दालका पिण्ड-रूपी वह तोहफा पेटके भीतर जाकर पत्थरका पिण्ड बन रहा है।

अध्यवसायसे बहुत-कुछ हो सकता है। परन्तु उसकी भी एक हद है। हाथ-मुँह धोनेका भी अवसर न मिला, सब बाहर निकल गया। मारे डरके मेरी सिट्टी गुम हो गई; क्योंकि, उसे मुझे ही साफ करना पड़ेगा, इसमें तो कोई शक ही नहीं। मगर उतनी ताकत भी अब न रह गई। आँखोंकी दृष्टि धुँधली हो

आई। किसी तरह मैं इतना कह सका, "चार-छै मिनटमें मैं अपनेको सम्हाले लेता हूँ, फिर सब साफ़ कर दूँगा।"

सोचा था कि जवाबमें न जाने क्या क्या सुनना पड़ेगा। मगर आश्चर्य है कि उस महिलाका भयानक कण्ठस्वर अकस्मात् ही कोमल हो गया। अब वे अँधेरेमेंसे निकलकर मेरे सामने आ गईं। बोलीं, "तुम क्यों साफ करोगे बेटा, मैं ही सब साफ किये देती हूँ। बाहरके बिछौना तो अभी कर नहीं पाईं, तब तक चलो तुम, मेरी ही कोठरीमें चलकर लेट रहो।"

'ना' कहनेका सामर्थ्य मुझमें न था। इसलिए, चुपचाप उनके पीछे पीछे जाकर, उन्हींकी शतछिन्न शय्यापर आँख मीचकर पड़ रहा।

बहुत अबेरमें जब नींद खुली, तब मुझमें सिर उठानेकी भी शक्ति न थी, ऐसे ज़ोरसे बुखार चढ़ रहा था। सहजमें मेरी आँखोंसे आँसू नहीं गिरते, पर आज, यह सोचकर कि इतने बड़े अपराधकी अब किस तरह जवाबदेही करूँगा, खालिस और निरवच्छिन्न आतंकसे ही मेरी आँखें भर आईं। मालूम हुआ कि बहुत बार बहुत-सी निरुद्देश यात्राएँ मैंने की हैं, परन्तु इतनी बड़ी विडम्बना जगदीश्वरने और कभी भी मेरे भाग्यमें नहीं लिखी। और फिर एक बार मैंने जी जानसे उठनेकी कोशिश की, किन्तु किसी तरह सिर सीधा न कर सका और अन्तमें आँख मींचकर पड़ रहा।

आज चक्रवर्ती गृहिणीसे रूबरू बातचीत हुई। शायद अत्यन्त दुःखमेंसे ही नारियोंका सच्चा और गहरा परिचय मिला करता है। उन्हें पहचान लेनेकी ऐसी कसौटी भी और कुछ नहीं हो सकती, और पुरुषके पास उनका हृदय जीतनेके लिए इतना बड़ा अस्त्र भी और कोई नहीं होगा।

मेरे बिछौनेके पास आकर वे बोलीं, "नींद खुली बेटा?"

मैंने आँखें खोलकर देखा। उनकी उमर शायद चालीसके लगभग होगी,— कुछ ज़्यादा भी हो सकती है। रंग काला है, पर नाक-आँख साधारण भद्र-गृहस्थ घरकी स्त्रियोंके समान ही हैं। कहीं भी कुछ रूखापन नहीं, कुछ है तो सिर्फ़ सर्वाङ्गव्यापी गभीर दारिद्र्य और अनशनके चिह्न,—दृष्टि पड़ते ही यह बात मालूम हो जाती है।

उन्होंने फिर पूछा, "अँधेरेमें दिखाई नहीं देता बेटा, पर, मेरा बड़ा लड़का जीता रहता तो तुम-सा ही बड़ा होता।"

इसका क्या उत्तर दूँ ? उन्होंने चटसे मेरे माथेपर हाथ रखकर कहा, "बुखार तो अब भी खूब है।"

मैंने आँखें मीच ली थीं, आँखें मीचे ही मीचे कहा, "कोई जरा सहारा दे दे तो, शायद, अस्पताल तक पहुँच जाऊँगा,—कोई ज़्यादा दूर थोड़े ही है।"

मैं उनका चेहरा तो न देख सका, पर इतना तो समझ गया कि मेरी बातसे उनका कंठस्वर मानो वेदनासे भर आया। बोलीं, "दुःखकी जलनसे कल कई-एक बातें मुँहसे निकल गई हैं, इसीसे, बेटा, गुस्सा करके उस जमपुरीमें जाना चाहते हो ? और तुम जाना भी चाहोगे तो मैं जाने कब दूँगी ?" इतना कहकर वे कुछ देर तक चुपचाप बैठी रहीं, फिर धीरे धीरे बोलीं, "रोगीसे नियम नहीं बनता, बेटा। देखो न, जो लोग अस्पतालमें जाकर रहते हैं, उन्हें वहाँ किस-किसका छुआ खाना पड़ता है, बताओ तो ? पर उससे जात थोड़े ही जाती है ? मैं साबू-बार्ली बनाकर दूँ, तो तुम न खाओगे ?"

मैंने गरदन हिलाकर जताया कि इसमें मुझे रंच-मात्र भी आपत्ति नहीं। और सिर्फ बीमार हूँ इसलिए नहीं, अत्यन्त नीरोग अवस्थामें भी मुझे इससे कोई परहेज नहीं।

अतएव, वहीं रह गया। कुल मिलाकर शायद चारेक दिन रहा। फिर भी, उन चार दिनोंकी स्मृति सहजमें भूलनेकी नहीं। बुखार एक ही दिनमें उतर गया, पर बाकी दिनोंमें, कमजोर होनेके कारण, उन्होंने मुझे वहाँसे हिलने भी न दिया। कैसे भयानक दारिद्र्यमें इस ब्राह्मण परिवारके दिन कट रहे हैं, और उस दुर्गतिको बिना किसी कुसूरके हजार-गुना कड़ुआ कर रखा है समाजके अर्थहीन पीड़नने ! चक्रवर्ती-गृहिणी अपनी अविश्रान्त मेहनतके भीतरसे भी, जरा भी फुरसत पानेपर, मेरे पास आकर बैठ जाती थीं। सिर और माथेपर हाथ फेर देती थीं। तैयारियोंके साथ रोगका पथ्य न जुटा सकती थीं, पर उस त्रुटिको अपने व्यवहार और जतनसे पूरी कर देनेके लिए कैसी एकाग्र चेष्टा उनमें पाता था !

पहले इनकी अवस्था काम चलाऊ अच्छी थी। जमीन-जायदाद भी ऐसी कुछ बुरी नहीं थी। परन्तु, उनके अल्पबुद्धि पतिको लोगोंने धोखा दे-देकर आज उन्हें ऐसे दुःखमें डाल दिया है। वे आकर रुपये उधार माँगते थे; कहते थे,—हैं तो यहाँ बहुत-से बड़े आदमी, पर कितनोंकी छातीपर इतने बाल हैं ?

लिहाजा, छातीके उन बालोंका परिचय देनेके लिए कर्ज करके कर्ज दिया करते थे। पहले तो हाथ-चिट्ठी लिखकर और बादमें स्त्रीसे छिपाकर जमीन गहने रखकर कर्ज देने लगे। नतीजा अधिकांश स्थलोंपर जैसा होता है, यहाँ भी वैसा ही हुआ।

यह कुकार्य चक्रवर्तीके लिए असाध्य नहीं, इस बातपर मुझे, एक ही रातकी अभिज्ञतासे, पूरा विश्वास हो गया। बुद्धिके दोषसे धन-सम्पत्ति बहुतोंकी नष्ट हो जाती है, उसका परिणाम भी अत्यन्त दुःखमय होता है, परन्तु, यह दुःख समाजकी अनावश्यक और अन्धी निष्ठुरतासे कितना ज़्यादा बढ़ सकता है, इसका मुझे चक्रवर्ती-गृहिणीकी प्रत्येक बातसे, नस-नसमें, अनुभव हो गया। उनके यहाँ सिर्फ दो सोनेकी कोठरियाँ थीं, एकमें लड़के-बच्चे रहते हैं और दूसरीपर बिलकुल और बाहरका आदमी होते हुए भी, मैंने दखल जमा लिया। इससे मेरे संकोचकी सीमा न रही। मैंने कहा, "आज तो मेरा बुखार उतर गया है। और आप लोगोंको भी बड़ी तकलीफ हो रही है। अगर बाहरवाली बैठकमें मेरा बिस्तर कर दें, तो मुझे बहुत सन्तोष हो।"

गृहिणीने गरदन हिलाकर जवाब दिया, "सो कैसे हो सकता है बेटा? बादल घिर रहे हैं, अगर बरसा हुई तो उस कमरेमें ऐसी जगह ही न रहेगी जहाँ सिर भी रखा जा सके। तुम अभी कमज़ोर ठहरे, इतनी हिम्मत तो मुझसे न होगी।"

उनके आँगनमें एक तरफ कुछ पुआल पड़ा था, उसपर मैंने गौर किया था। उसीकी तरफ इशारा करके मैंने पूछा, "पहलेसे मरम्मत क्यों नहीं करा ली? आँधी-मेहके दिन तो आ भी गये।"

इसके उत्तरमें माल्रूम हुआ कि मरम्मत कराना कोई आसान बात नहीं। पतित ब्राह्मण होनेसे इधरका कोई किसान-मजूर उनका काम नहीं करता। आन-गाँवमें जो मुसलमान काम करनेवाले हैं, वे ही घर छाते हैं। किसी भी कारणसे हो, इस साल वे आ नहीं सके हैं। इसी प्रसंगमें वे सहसा रो पड़ीं, बोलीं, "बेटा, हम लोगोंके दुःखका क्या कोई अन्त है? उस साल मेरी सात-आठ सालकी लड़की अचानक हैजेमें मर गई; पूजाके दिन थे, मेरे भइया गये थे काशीजी घूमने, सो और कोई आदमी न मिलनेसे छोटे लड़केके साथ अकेले इन्हींको मसान जाना पड़ा। सो भी क्या किरिया-करम ठीकसे हो सका? लकड़ी तक किसीने काटके न दी। बाप होकर गढ़ा खोदके गाड़-गूड़कर इन्हें

घर लौट आना पड़ा।" कहते कहते उनका दबा हुआ पुराना शोक एकबारगी नया होकर दिखाई दिया। आँखें पोंछती हुई जो कुछ कहने लगीं, उसमें मुख्य शिकायत यह थी कि उनके पुरखोंमें किसी समय किसीने श्राद्धका दान ग्रहण किया था,—यही तो कसूर हुआ?—और, श्राद्ध तो हिन्दूका अवश्य कर्तव्य है, कोई न कोई तो उसका दान लेगा ही, नहीं तो वह श्राद्ध ही असिद्ध और निष्फल हो जायगा। फिर, दोष इसमें कहाँ है?—और दोष अगर हो ही, तो आदमीको लोभमें फँसाकर उस काममें प्रवृत्त ही क्यों किया जाता है?

इन प्रश्नोंका उत्तर देना जितना कठिन है, इतने दिनों बाद इस बातका पता लगाना भी उतना ही दुःसाध्य है कि उन पुरखोंकी किस दुष्कृतिके दण्डस्वरूप उनके वंशधरोंको ऐसी विडम्बना सहनी पड़ रही है। श्राद्धका दान लेना अच्छा है या बुरा, सो मैं नहीं जानता। बुरा होनेपर भी यह बात सच है कि व्यक्तिगत रूपसे इस कामको वे नहीं करते, इसलिए वे निरपराध हैं। अफसोस तो इस बातका है कि मनुष्य, पड़ोसी होकर, अपने दूसरे पड़ोसीकी जीवन-यात्राका मार्ग, बिना किसी दोषके, इतना दुर्गम और दुःखमय बना दे सकता है, ऐसी हृदयहीन निर्दय बर्बरताका उदाहरण दुनियामें शायद सिर्फ हिन्दू-समाजके सिवा और कहीं न मिलेगा।

उन्होंने फिर कहा, "इस गाँवमें आदमी ज़्यादा नहीं हैं, मलेरिया बुखार और हैजेसे आधे मर गये हैं। अब सिर्फ ब्राह्मण, कायस्थ और राजपूतोंके घर बचे हैं। हम लोग तो लाचार हैं बेटा, नहीं तो जी चाहता है कि कहीं किसी मुसलमानोंके गाँवमें जाकर रहें।

मैंने कहा, "मगर वहाँ तो जात जा सकती है?"

उन्होंने इस प्रश्नका ठीक जवाब नहीं दिया, बोली, "नातेमें मेरे एक चचिया-ससुर लगते हैं, वे दुमका गये थे नौकरी करने, सो ईसाई हो गये। उन्हें तो अब कोई तकलीफ ही नहीं है।"

मैं चुप रह गया। कोई हिन्दूधर्म छोड़कर दूसरा धर्म ग्रहण करनेको मन-ही-मन उत्सुक हो रहा है, यह सुनकर मुझे बड़ा दुःख होता है, मगर उन्हें सान्त्वना भी देना चाहूँ तो दूँ क्या कहकर? अब तक मैं यही समझता था कि सिर्फ अस्पृश्य नीच जातियाँ ही हिन्दू-समाजमें अत्याचार सहा करती हैं, मगर आज समझा कि बचा कोई भी नहीं है। अर्थहीन अविवेचनासे परस्पर एक

दूसरेके जीवनको दूभर कर डालना ही मानो इस समाजका मज्जागत संस्कार है बादमें बहुतोंसे मैंने पूछा है, और बहुतोंने इस बातको स्वीकार करते हुए कहा है, कि यह अन्याय है, यह गर्हित है, बुरी बात है; फिर भी, इसके निराकरणका वे कोई भी मार्ग नहीं बतला पाते। इस अन्यायके बीचमेंसे वे जन्मसे लेकर मौत तक चलनेके लिए राजी हैं पर प्रतिकारकी प्रवृत्ति या साहस,—इन दोनोंमेंसे कोई भी बात उनमें नहीं। जानने-समझनेके बाद भी अन्यायके प्रतिकार करनेकी शक्ति जिनमेंसे इस तरह बिला गई है, वह जाति अधिक दिनों तक कैसे जीवित रह सकती है, यह सोच समझ सकना मुश्किल ही है।

तीन दिनके बाद, स्वस्थ होकर, मैं जब सबेरे ही जानेको तैयार हुआ, तो मैंने कहा, "मा, आज मुझे बिदा दीजिए।"

चक्रवर्ती-गृहिणीकी दोनों आँखोंमें आँसू भर आये। कहा, "दुःखियोंके घर बहुत दुःख पाया बेटा, तुम्हें कड़ुई बातें भी कम नहीं सुननी पड़ीं।"

इस बातका उत्तर ढूँढ़े न मिला। 'नहीं नहीं, सो कोई बात नहीं,—मैं बड़े आरामसे रहा, मैं बहुत कृतज्ञ हूँ—' इत्यादि मामूली शराफतकी बातें कहनेमें भी मुझे शरम मालूम होने लगी। वज्रानन्दकी बात याद आई। उसने एक दिन कहा था, 'घर त्याग आनेसे क्या होता है? इस देशमें घर घर मा-बहिनें मौजूद हैं, हमारी मजाल क्या है कि हम उनके आकर्षणसे बचकर निकल जायँ।' बात असलमें कितनी सत्य है!

अत्यन्त गरीबी और कमअक्ल पतिके अविचारितरम्य या ऊटपटांग कार्य-कलापोंने इस गृहस्थ-घरकी गृहिणीको लगभग पागल बना दिया है, परन्तु जिस ही क्षण उनको अनुभव हुआ कि मैं बीमार हूँ, लाचार हूँ,—फिर तो उनके लिए सोचनेकी कोई बात ही नहीं रह गई। मातृत्वके सीमाहीन स्नेहसे मेरे रोग तथा पराये घर ठहनेके सम्पूर्ण दुःखको मानो उन्होंने अपने दोनों हाथोंसे एकबारगी पोंछकर अलग कर दिया।

चक्रवर्तीजी कोशिश करके कहींसे एक बैलगाड़ी जुटा लाये। गृहिणीकी बड़ी भारी इच्छा थी कि मैं नहा धो और खा-पीकर जाऊँ, परन्तु धूप और गरमी बढ़ जानेकी आशंकासे वे ज्यादा अनुरोध न कर सकीं। चलते समय सिर्फ देवी-देवताओंका नाम-स्मरण करके आँखें पोंछती हुई बोलीं, "बेटा, यदि कभी इधर आओ, तो एक बार यहाँ जरूर हो जाना।"

उधर जाना भी कभी नहीं हुआ, और वहाँ जरूर हो आना भी मुझसे न बन सका। बहुत दिनोंबाद सिर्फ इतना सुना कि राजलक्ष्मीने कुशारी-महाशयके हाथसे उन लोगोंका बहुत-सा कर्जा अपने ऊपर ले लिया है।

❧ ❧ ❧

१४

करीब तीसरे पहर गंगामाटी, घरपर, पहुँचा। द्वारके दोनों तरफ कदलीवृक्ष और मंगल-घट स्थापित थे। ऊपर आम्र-पल्लवोंकी बन्दनवार लटक रही थी। बाहर बहुतसे लोग इकट्ठे बैठे तमाखू पी रहे थे। बैलगाड़ीकी आहटसे उन लोगोंने मुँह उठाकर देखा। शायद इसीके मधुर शब्दसे आकृष्ट होकर और एक साहब अकस्मात् सामने आ खड़े हुए,—देखा तो वज्रानन्द हैं। उनका उल्लसित कलरव उद्दाम हो उठा, और तब कोई आदमी दौड़कर भीतर खबर देने भी चला गया। स्वामीजी कहने लगे कि "मैंने आकर सब हाल सबसे कह सुनाया है। तबसे बराबर चारों तरफ आदमी भेजकर तुम्हें ढूँढ़ा जा रहा है,—एक ओर जैसे कोशिश करनेमें कोई बात उठा न रखी गई, वैसे ही दूसरी ओर दुश्चिन्ताकी भी कोई हद नहीं रही। आखिर माजरा क्या था? अचानक कहाँ डुबकी लगा गये थे, बताइए तो? गाड़ीवान छोकरेने तो जाकर कहा कि आपको वह गंगामाटीके रास्तेमें उतारकर चला आया है।"

राजलक्ष्मी काममें व्यस्त थी, उसने आकर पैरोंके आगे माथा टेककर प्रणाम किया, और कहा, "घर-भरको, सबको, तुमने कैसी कड़ी सजा दी है, कुछ कहनेकी नहीं।" फिर वज्रानन्दको लक्ष्य करके कहा, "मेरा मन जान गया था कि आज ये आयेंगे ही।"

मैंने हँसकर कहा, "द्वारपर केलेके थम्भ और घट-स्थापना देखकर ही मैं समझ गया कि मेरे आनेकी खबर तुम्हें मिल गई है।"

दरवाजेकी ओटमें रतन आकर खड़ा था। वह चटसे बोल उठा, "जी नहीं, इसलिए नहीं,—आज घरपर ब्राह्मण-भोजन होगा न, इसीलिए। वक्रनाथके दर्शन कर आनेके बादसे मा—"

राजलक्ष्मीने डाँट लगाकर उसे जहाँका तहाँ रोक दिया, "अब व्याख्या करनेकी जरूरत नहीं, तू जा, अपना काम देख।"

उसके सुर्ख चेहरेकी तरफ देखकर वज्रानन्द हँस दिया, बोला, "समझे नहीं भाई साहब, किसी एक काममें न लगे रहनेसे मनकी उत्कंठा बहुत बढ़ जाती है।—सही नहीं जाती। भोजका आयोजन सिर्फ इसीलिए है। क्यों जीजी, है न यही बात?"

राजलक्ष्मीने कोई जवाब नहीं दिया, वह गुस्सा होकर वहाँसे चल दी। वज्रानन्दने पूछा, "बड़े दुबले-से मालूम पड़ते हो, भाई साहब, इस बीचमें बात क्या हो गई थी, बताइए तो? घर न आकर अचानक गायब क्यों हो गये थे?"

गायब होनेका कारण विस्तारके साथ सुना दिया। सुनकर आनन्दने कहा, "भविष्यमें अब कभी इस तरह न भागिएगा। किस तरह इनके दिन कटे हैं, सो आँखसे देखे वगैर विश्वास नहीं किया जा सकता।"

यह मैं जानता था। लिहाजा, आँखोंसे बिना देखे ही मैंने विश्वास कर लिया। रतन चाय और हुक्का दे गया। आनन्दने कहा, "मैं भी बाहर जाता हूँ भाई साहब। इस वक्त आपके पास बैठे रहनेसे कोई एक जनी शायद इस जनममें मेरा मुँह न देखेंगी।" यह कहकर हँसते हुए उन्होंने प्रस्थान किया।

कुछ देर बाद राजलक्ष्मीने प्रवेश करके अत्यन्त स्वाभाविक भावसे कहा, "उस कमरेमें गरम पानी, अँगौछा, धोती, सब रख आई हूँ,—सिर्फ सिर और देह अँगौछकर कपड़े बदल डालो जाकर। बुखारमें, खबरदार, सिरपर पानी न डाल लेना, कहे देती हूँ।"

मैंने कहा, "मगर स्वामीजीसे तुमने गलत बात सुनी है, बुखार मुझे नहीं है।"

राजलक्ष्मीने कहा, "नहीं है तो न सही, पर होनेमें देर कितनी लगती है?"

मैंने कहा, "इसकी खबर तो तुम्हें ठीक ठीक दे नहीं सकता, पर मारे गर्मीके मेरा तो सारा शरीर जला जा रहा है, नहाना जरूरी है मेरे लिए।"

राजलक्ष्मीने कहा, "जरूरी है क्या? तो फिर अकेले तुमसे न बन पड़ेगा, चलो, मैं भी तुम्हारे साथ चलती हूँ।" इतना कहकर वह खुद ही हँस पड़ी, और बोली, "क्यों झगड़ा करके मुझे तकलीफ दे रहे हो और खुद भी परेशानी उठा रहे हो। इतनी अबेरमें मत नहाओ, मान जाओ, तुम्हें मेरी कसम है।"

इस ढंगकी बात करनेमें राजलक्ष्मी बेजोड़ है। अपनी इच्छाको ही ज़बर्दस्ती दूसरेके कन्धेपर लाद देनेके कडुएपनको वह स्नेहके मधुर-रससे इस तरह भर दे सकती है कि उस ज़िदके विरुद्ध किसीका भी कोई संकल्प सिर नहीं उठा सकता। बात बिल्कुल तुच्छ है, स्नान न करनेसे भी मेरा चल जायगा; किन्तु, जिन्हें किये बिना नहीं चल सकता ऐसे कामोंमें भी, बहुत बार देखा है कि, उसकी इच्छा-शक्तिको अतिक्रम करके चलनेकी शक्ति मुझमें नहीं। मुझमें ही क्यों, किसीमें भी वह शक्ति मैंने नहीं देखी। मुझे उठाकर वह भोजन लाने गई। मैंने कहा, "पहले तुम्हारे ब्राह्मण-भोजनका काम निबट जाने दो न?"

राजलक्ष्मीने आश्चर्यके साथ कहा, "माफ करो तुम, वह काम निबटते निबटते तो साँझ हो जायगी।"

"सो हो जाने दो।"

राजलक्ष्मीने हँसते हुए कहा, "ठीक है। ब्राह्मण-भोजनको मेरे ही सिर रहने दो, उसके लिए तुम्हें भूखा रखनेसे मेरी स्वर्गकी सीढ़ी ऊपरके बदले बिल्कुल पातालकी ओर चली जायगी।" यह कहकर वह भोजन लेने चल दी।

कुछ ही समय बाद जब वह मेरे पास भोजन कराने बैठी, तब देखा कि सामने रोगीका पथ्य है। ब्रह्म-भोजकी सारी गुरुपाक वस्तुओंके साथ उसका कोई सम्बन्ध न था। मालूम हुआ कि मेरे आनेके बाद ही उसने उसे अपने हाथसे तैयार किया है। फिर भी, जबसे आया हूँ, उसके आचरणमें,—उसकी बातचीतके ढंगसे, कुछ ऐसा अनुभव कर रहा था जो केवल अपरिचित ही नहीं था, अतिशय नूतन भी था। वही खिलानेके समय बिल्कुल स्पष्ट हो गया, परन्तु वह कैसे और किस तरह सुस्पष्ट हो गया, कोई पूछता तो मैं उसे अस्पष्टतासे भी न समझा सकता। शायद, यही बात प्रत्युत्तरमें कह देता कि जान पड़ता है मनुष्यकी अत्यन्त व्यथाकी अनुभूतिको प्रकाश करनेकी भाषा अब भी आविष्कृत नहीं हुई। राजलक्ष्मी खिलाने बैठी, किन्तु खाने न खानेके सम्बन्धमें उसकी पहले जैसी अभ्यस्त ज़बर्दस्ती नहीं थी, था सिर्फ व्याकुल अनुनय। ज़ोर नहीं, भिक्षा। बाहरके नेत्रोंसे वह चीज़ नहीं पकड़ी जाती, केवल मनुष्यके निभृत हृदयकी अपलक आँखें ही उसे देख सकती हैं।

भोजन समाप्त हो गया। राजलक्ष्मी बोली, "तो अब मैं जाऊँ?"

अतिथि सज्जन बाहर एकठे हो रहे थे। मैंने कहा, "जाओ।"

मेरे जूठे बर्तन हाथमें लेकर जब वह धीरे धीरे कमरेसे बाहर हो गई, तब बहुत देर तक मैं अन्यमनस्क होकर उस ओर चुपचाप देखता रहा। खयाल आने लगा कि राजलक्ष्मीको जैसा छोड़ गया था, इन थोड़े-से दिनोंमें ठीक वैसा तो उसे नहीं पाया। आनन्द कहता था कि दीदी कलसे ही एक तरहसे उपवास कर रही हैं, आज भी जलस्पर्श नहीं किया है, और कल कब उनका उपवास टूटेगा इसका भी कोई निश्चय नहीं। यह असंभव नहीं। हमेशासे ही देखता आ रहा हूँ कि उसका धर्मपिपासु चित्त कभी किसी भी कृच्छ्र-साधनासे पराङ्मुख नहीं रहा! यहाँ आनेके बादसे तो सुनन्दाके साहचर्यसे उसकी वह अविचलित निष्ठा बढ़ती ही जा रही थी। आज उसे थोड़ी ही देर देखनेका अवकाश पाया है, किन्तु, जिस दुर्ज्ञेय रहस्यमय मार्गपर वह अविश्रान्त द्रुत-गतिसे पैर उठाती हुई चल रही है, उसे देखते हुए खयाल आया कि उसके निन्दित जीवनकी संचित कालिमा चाहे जितनी अधिक हो वह उसके समीप तक नहीं पहुँच सकती। किन्तु मैं? मैं उसके मार्गके बीच उत्तुग गिरिश्रेणीके समान सब कुछ रोककर खड़ा हूँ!

काम-काज समाप्त करके राजलक्ष्मीने जब निःशब्द पैर रखते हुए घरमें प्रवेश किया तब शायद दस बजे चुके थे। रोशनी कम करके, बहुत ही सावधानीसे, मेरी मशहरी खींचकर वह अपनी शय्यापर सोने जा रही थी कि मैंने कहा, "तुम्हारा ब्रह्म-भोज तो सन्ध्याके पहले ही समाप्त हो गया था, फिर इतनी रात कैसे हो गई?"

राजलक्ष्मी पहले चौंकी, फिर हँसकर बोली, "मेरी तक़दीर! मैं तो डरती डरती आ रही हूँ कि कहीं तुम्हारी नींद न टूट जाय परन्तु तुम तो अबतक जाग रहे हो, नींद नहीं आई?"

"तुम्हारी आशासे ही जाग रहा हूँ।"

"मेरी आशासे? तो बुलवा क्यों न लिया?" यह कहकर वह पास आई और मशहरीका एक किनारा उठाकर मेरी शय्याके सिरहाने आ बैठी। फिर हमेशाके अभ्यासके अनुसार मेरे बालोंमें उसने अपने दोनों हाथोंकी दसों अँगुलियाँ डालते हुए कहा, "मुझे बुलवा क्यों न लिया?"

"बुलानेसे क्या तुम आतीं? तुम्हें कितना काम रहता है!"

"रहे काम! तुम्हारे बुलानेपर 'ना' कह सकूँ यह मेरे वशकी बात है?"

इसका कोई उत्तर न था। जानता हूँ, सचमुच ही मेरे आह्वानकी परवा

न करनेकी शक्ति उसमें नहीं है। किन्तु, आज इस सत्यको भी सत्य समझनेकी शक्ति मुझमें कहाँ है ?

राजलक्ष्मीने कहा, " चुप क्यों हो रहे ? "

" सोच रहा हूँ। "

" सोच रहे हो ? क्या सोच रहे हो ? " यह कहकर उसने धीरेसे मेरे कपालपर अपना मस्तक झुकाकर आहिस्तेसे कहा, " मुझपर गुस्सा होकर घरसे चले गये थे ? "

" तुमने यह कैसे जाना कि गुस्सा होकर चला गया था ? "

राजलक्ष्मीने मस्तक नहीं उठाया, आहिस्तेसे कहा, " यदि मैं गुस्सा होकर चली जाऊँ तो क्या तुम नहीं जान पाओगे ? "

बोला, " शायद जान लूँगा। "

राजलक्ष्मीने कहा, " तुम ' शायद ' जान पाओ, परन्तु मैं तो निश्चयपूर्वक जान सकती हूँ और तुम्हारे जाननेकी अपेक्षा बहुत ज़्यादा जान सकती हूँ। "

मैंने हँसकर कहा, " ऐसा ही होगा। इस विवादमें तुम्हें हराकर मैं विजयी नहीं होना चाहता, लक्ष्मी, स्वयं हार जानेकी अपेक्षा तुम्हारे हारनेसे मेरी बहुत अधिक हानि है। "

राजलक्ष्मीने कहा, " यदि जानते हो तो फिर कहते क्यों हो ? "

मैं बोला, " कहाँ कहता हूँ ? कहना तो बहुत दिनोंसे बन्द कर दिया है, यह बात शायद तुम्हें मालूम नहीं। "

राजलक्ष्मी चुप हो रही। पहले होता तो राजलक्ष्मी मुझे सहजमें न छोड़ती,— हज़ारों प्रश्न करके इसकी कैफियत तलब करके ही मानती, किन्तु इस समय वह मौन-मुखसे स्तब्ध हो रही। कुछ समय बाद मुँह उठाकर उसने दूसरी बात छेड़ दी। पूछा, " तुम्हें क्या इस बीच ज्वर आ गया था ? घरपर मुझे खबर क्यों न भेज दी ? "

ख़बर न भेजनेके कारण बतलाये। एक तो ख़बर लानेवाला आदमी नहीं था, दूसरे, जिनके पास ख़बर भेजनी थी वे कहाँ हैं यह भी मालूम न था। किन्तु, मैं कहाँ और किस हालतमें था, यह सविस्तार बतलाया। चक्रवर्ती-गृहिणीके पाससे आज सवेरे ही विदा लेकर आया हूँ। उस दीन-हीन गृहस्थ-परिवारमें

जिस हालतमें आश्रय लिया था और जिस प्रकार बेहद ग़रीबीमें गृहिणीने अज्ञात-कुलशील रोगग्रस्त अतिथिकी पुत्रसे भी अधिक स्नेह-शुश्रूषा की थी वह कहने लगा तो कृतज्ञता और वेदनासे मेरी आँखें आँसुओंसे भर गईं।

राजलक्ष्मीने हाथ बढ़ाकर मेरे आँसू पोंछ दिये और कहा, "तो वे ऋण-मुक्त हो जायँ, इसके लिए उन्हें कुछ रुपये क्यों नहीं भेज देते?"

मैंने कहा, "रुपये होते तो भेजता, पर मेरे पास रुपये तो हैं नहीं।"

मेरी इन बातोंसे राजलक्ष्मीको मर्मान्तक पीड़ा होती थी। आज भी वह मन-ही-मन उतनी ही दुःखित हुई, लेकिन, उसका सब पैसा-रुपया मेरा ही है, यह बात आज उसने उतने ज़ोरसे प्रकट नहीं की। पहले तो इस बातपर वह कलह करनेके लिए तैयार हो जाया करती थी। वह चुप रही।

उसमें आज यह नई बात देखी। मेरी इस बातपर उसका इस प्रकार शान्त होकर चुपचाप बैठ रहना मुझे भी अखरा। थोड़ी देर बाद वह एक दीर्घ निःश्वास छोड़कर सीधे बैठ गई। मानो इस दीर्घ निःश्वाससे उसने अपने चारों ओर छाये हुए वाष्पाच्छन्न आवरणको फाड़ देना चाहा। घरकी धीमी रोशनीमें उसका चेहरा अच्छी तरह नहीं देख सका; लेकिन, जिस समय उससे बात की, उसके कण्ठ-स्वरमें मैंने एक आश्चर्यजनक परिवर्तन पाया। राजलक्ष्मी बोली, "बर्मासे तुम्हारी चिट्ठीका जवाब आया है। दफ़्तरका बड़ा लिफ़ाफ़ा है, ज़रूरी समझकर आनन्दसे पढ़ा लिया है।"

"उसके बाद?"

"बड़े साहबने तुम्हारी दरख़्वास्त मंजूर कर ली है और जतलाया है कि वापस जानेपर तुम्हारी पहली नौकरी फिर मिल जायगी।"

"अच्छा!"

"हाँ। लाऊँ वह चिट्ठी?"

"नहीं, ठहरो। कल सुबह देखूँगा।"

फिर हम दोनों चुप हो रहे। क्या कहूँ, किस तरह यह चुप्पी भंग करूँ, यह न सोच सकनेके कारण मन-ही-मन उद्विग्न होने लगा। अकस्मात् मेरे सिरपर आँसूका एक बूँद टपक पड़ा। मैंने धीरेसे पूछा, "मेरी दरख़्वास्त मंजूर हुई है, यह तो बुरी ख़बर नहीं है। लेकिन तुम रो क्यों पड़ीं?"

राजलक्ष्मी आँचलसे आँसू पोंछकर बोली—"तुम फिर अपनी नौकरीके

लिए विदेश चले जानेकी चेष्टा कर रहे हो, यह बात तुमने मुझे बतलाई क्यों नहीं ? क्या तुमने समझा था कि मैं रोकूँगी ?"

मैंने कहा, "नहीं, बल्कि बतलानेपर तो तुम और उत्साहित करतीं। लेकिन, इसलिए नहीं,—मालूम होता है कि मैंने सोचा था कि इन सब छोटी बातोंके सुननेके लिए तुम्हारे पास समय न होगा।"

राजलक्ष्मी चुप हो रही। लेकिन उसने अपना उच्छ्वसित निःश्वास रोकनेके लिए प्राण-पणसे जो कोशिश की वह मुझसे छिपी न रही। पर, यह हालत क्षण-भर ही रही। उसके बाद उसने मीठे स्वरमें कहा, "इस बातका जवाब देकर अपने अपराधका बोझ और न बढ़ाऊँगी। तुम जाओ, मैं बिलकुल न रोकूँगी।"

यह कहकर वह थोड़ी ही देर चुप रहकर फिर बोली, "यहाँ न आते तो ऐसा मालूम होता है कि, मैं कभी यह जान ही न पाती कि मैं तुम्हें कैसी दुर्गतिमें खींच लाई हूँ। यह गंगामाटीका अन्धकूप स्त्रियोंके लिए गुज़ारेलायक हो सकता है, लेकिन पुरुषोंके लिए नहीं। यहाँका बेकार और उद्देश्यहीन जीवन तो तुम्हारे लिए आत्म-हत्याके समान है। यह मैंने तुम्हारी आँखोंमें स्पष्ट देखा है।"

मैंने पूछा, "क्या तुम्हें किसीने दिखा दिया है ?"

राजलक्ष्मी बोली, "नहीं। मैंने खुद ही देखा है। तीर्थयात्रा की थी, पर भगवानको नहीं देख पाई। उसके बदले केवल तुम्हारा लक्ष्य-भ्रष्ट नीरस चेहरा ही दिन-रात दिखाई देता रहा। मेरे लिए तुम्हें बहुत त्याग करना पड़ा है; किन्तु, अब और नहीं।"

इतनी देरतक मेरे मनमें एक जलन ही थी; किन्तु उसके कण्ठ-स्वरकी अनिर्वचनीय करुणासे मैं विह्वल हो गया। बोला,—"तुम्हें क्या कम त्याग करना पड़ा है, लक्ष्मी ? गंगामाटी तुम्हारे रहनेलायक भी तो नहीं है ?"

लेकिन, यह बात कहकर मैं संकोचसे मर गया, क्योंकि, मेरे मुखसे लापर्वाहीसे भी जो गर्हित बात निकल गई, वह इस तीक्ष्ण बुद्धिशालिनी रमणीसे छिप न सकी। पर आज उसने मुझे माफ़ कर दिया। मालूम होता है, बातकी अच्छाई-बुराईपर मान-अभिमानका जाल बुनकर नष्ट करनेके लिए उसके पास समय ही नहीं था, बोली, "बल्कि, मैं ही गंगामाटीके योग्य नहीं हूँ,—सभी यह बात नहीं समझ सकेंगे; पर, तुम्हें यह समझना चाहिए कि मुझे सचमुच ही कुछ त्याग नहीं

करना पड़ा। लोगोंने एक दिन पत्थरकी तरह मेरी छातीपर जो भार रख दिया था क्या सिर्फ वही दूर हो गया है? नहीं। आजीवन तुम्हींको चाहा था, इसलिए, तुम्हें पाकर जो मुझे त्यागसे असंख्य गुना बदला मिल गया है, सो क्या तुम नहीं जानते ?"

जवाब न दे सका। जैसे कोई अन्तरतमका वासी मुझसे यह बात कहने लगा, 'भूल हुई है, तुमसे भारी भूल हुई है। उसे न समझकर तुमने बड़ा अविचार किया है।'

राजलक्ष्मीने ठीक इसी तारपर चोट की। कहा, "सोचा था कि तुम्हारे ही लिए कभी यह बात तुम्हें न बतलाऊँगी; लेकिन, आज मैं अपनेको और नहीं रोक सकी। मुझे सबसे अधिक दुख इसी बातका हो रहा है कि तुम अनायास ही यह कैसे सोच सके कि पुण्यके लोभका मुझे ऐसा उन्माद हो गया है कि मैंने तुम्हारी उपेक्षा करनी शुरू कर दी है। क्रुद्ध होकर चले जानेके पहले यह बात तुम्हें एक बार भी याद नहीं आई कि इस काल और पर कालमें राजलक्ष्मीके लिए तुम्हारी अपेक्षा लाभकी चीज़ और कौन-सी है!"

यह कहते कहते उसकी आँखोंके आँसू झर-झरके मेरे मुँहपर आ पड़े।

बातोंसे तसल्ली देनेकी भाषा उस समय मनमें न आ सकी, सिर्फ़ माथेके ऊपर रखा हुआ उसका दाहिना हाथ अपने हाथमें ले लिया। राजलक्ष्मी बायें हाथसे आँसू पोंछकर कुछ देर चुपचाप बैठी रही।

उसके बाद बोली, "मैं देख आऊँ, लोगोंका खाना-पीना हो चुका या नहीं। तुम सो जाओ।"

यह कहकर वह आहिस्तेसे हाथ छुड़ाकर बाहर चली गई। उसे पकड़ रखना चाहता तो रख सकता था; लेकिन, चेष्टा नहीं की। वह भी फिर लौटकर नहीं आई। जबतक नींद नहीं आई तबतक यही बात सोचता रहा कि ज़बर्दस्ती रोक रखता तो लाभ क्या होता? मेरी ओरसे तो कभी कोई ज़ोर था ही नहीं, सारा ज़ोर उसीकी तरफ़से था। आज अगर वही बन्धन खोलकर मुझे मुक्त करते हुए अपने आपको भी मुक्त करना चाहती है, तो मैं उसे किस तरह रोकूँ?

सुबह जागनेपर पहले उसकी खाटकी ओर नज़र डाली तो मालूम हुआ कि राजलक्ष्मी कमरेमें नहीं है। रातको वह आई थी या बड़े तड़के ही उठकर बाहर चली गई, यह भी मैं न समझ सका। बाहरी कमरेमें जाकर देखा तो वहाँ

कुछ कोलाहल-सा हो रहा है। रतन केटलीसे गरम चाय पात्रमें ढाल रहा है और उसके पास ही बैठी राजलक्ष्मी स्टोव्हपर सिंघाड़े और कचौरियाँ तल रही है। वज्रानन्द खाद्य-सामग्रियोंकी ओर अपनी निस्पृह निरासक्त दृष्टिसे देख रहे हैं। मुझे आते देख राजलक्ष्मीने अपने भीगे बालोंपर आँचल खींच लिया और वज्रानन्द कलरव कर उठे, "आ गये भाई, आपको देरी होते देख समझा था कि कहीं सब कुछ ठंडा न हो जाय।"

राजलक्ष्मीने हँसकर कहा, "हाँ, तुम्हारे पेटमें जाकर सब ठंडा हो जाता।"

आनन्दने कहा, "बहिन, साधु-संन्यासीका आदर करना सीखिए। ऐसी कड़ी बात न कहिए।"

फिर मुझसे कहा "कहो, तबीअत तो ठीक नहीं दीखती ! ज़रा हाथ तो देखूँ।"

राजलक्ष्मीने घबराकर कहा, "रहने दो आनन्द, तुम्हारी डाक्टरीकी ज़रूरत नहीं है; उनकी तबीअत ठीक है।"

"यही निश्चय करनेके लिए तो एक बार हाथ—"

राजलक्ष्मी बोली, "नहीं, तुम्हें हाथ देखनेकी ज़रूरत नहीं। तुम्हें क्या लगता है, अभी साबूदानेकी व्यवस्था दे दोगे।"

मैंने कहा, "साबूदाना मैंने बहुत खाया है, इसलिए, मैं उसकी व्यवस्था देनेपर भी नहीं सुनूँगा।"

"तुम्हें सुननेकी ज़रूरत भी नहीं है।" कहकर राजलक्ष्मीने थोड़े-से गरम सिंघाड़ों और कचौरियोंकी प्लेट मेरी ओर बढ़ा दी और फिर रतनसे कहा, "अपने बाबूको चाय दे।"

वज्रानन्दने संन्यासी होनेके पहले डाक्टरी पास की थी, अतः वे सहज ही हार माननेवाले नहीं थे; गर्दन हिलाते हुए बोलने लगे, "लेकिन बहिन, आपपर एक उत्तरदायित्व—"

राजलक्ष्मीने बीचहीमें उनकी बात काट दी, "लो सुनो, इनका उत्तरदायित्व मुझपर नहीं तो क्या तुमपर है ? आजतक जितना उत्तरदायित्व कन्धेपर लेकर इन्हें खड़ा रखा गया है उसे यदि सुनते तो बहिनके पास डाक्टरी करने न आते।"

यह कहकर राजलक्ष्मीने बाकीकी सारीकी सारी खाद्य-सामग्री एक थालमें रखकर उनकी ओर सरकाते हुए हँसकर कहा, "अब खाओ यह सब, बातें बन्द करो।"

आनन्द 'हें हें' करते हुए बोला, "अरे क्या इतना खाया जा सकता है ?"

राजलक्ष्मीने कहा,—"न खाया जायगा तो संन्यासी बनने क्यों गये थे ? और पाँच भले मानसोंकी तरह गृहस्थ बने रहते !"

आनन्दकी दोनों आँखें सहसा भर आईं। बोला, "आप जैसी बहिनोंका दल इस बंगालमें है तभी तो संन्यासी बना हूँ, नहीं तो, कसम खाकर कहता हूँ, यह गेरुवा-एरुवा अजयाके जलमें बहाकर घर चला जाता। लेकिन, मेरा एक अनुरोध है बहिन। परसोंसे ही तुमने एक तरहसे उपास कर रक्खा है, इसलिए, आज पूजा-पाठ आदिसे जरा जल्दी ही निबट लेना। इन चीज़ोंमें अब भी कोई स्पर्श-दोष नहीं लगा है, यदि आप कहें—न हो तो" कहकर उन्होंने सामनेकी भोज्यसामग्रीपर नज़र डाली।

राजलक्ष्मी डरकर आँखें फाड़ती हुई बोली, "यह कहते क्या हो आनन्द, कल तो हमारे सारे ब्राह्मण आ नहीं सके थे !"

मैंने कहा, "तो वे पहले भोजन कर जावें, उसके बाद सही।"

आनन्द बोला, "ऐसा है तो लो, मुझे ही उठना पड़ा। उनके नाम और पते दो,—पाषाण्डियोंको गलेमें अँगोछा डालकर खींच लाऊँगा और भोजन कराकर छोड़ूँगा।"

यह कहकर वह उठनेके बदले थाल खींचकर भोजन करने लगा !

राजलक्ष्मी हँसकर बोली, "संन्यासी हैं न, देव-ब्राह्मणोंमें बड़ी भक्ति है !"

इस तरह हमारा सबेरेका चाय-नाश्तेका काम जब पूरा हुआ तो आठ बज चुके थे। आकर बाहर बैठ गया। शरीरमें भी ग्लानि नहीं थी और हँसी-ठट्ठेसे मन भी मानो स्वच्छ प्रसन्न हो गया था। राजलक्ष्मीकी विगत रात्रिकी बातों और आजकी बातों तथा आचरणमें कोई एकता नहीं थी। उसने अभिमान और वेदनासे दुखित होकर ही वैसी बातें की थीं, इसमें सन्देह नहीं रहा। वास्तवमें रातके स्तब्ध अन्धकारके आवरणमें तुच्छ और मामूली घटनाको बड़ी और कठोर कल्पना करके जिस दुःख और दुश्चिन्ताको भोगा था, आज, दिनके प्रकाशमें, उसे याद करके मैं मन-ही-मन लज्जित हुआ और कौतुक भी अनुभव किया।

कलकी तरह आज उत्सव-समारोह नहीं था, तो भी, दिन-भर बीच-बीचमें न्यौते और बिना-न्यौते लोगोंके भोजनका सिलसिला बराबर जारी रहा। फिर एक

बार हम लोग चायका सरो सामान लेकर कमरेके फर्शपर आसन लगाकर बैठ गये। शामका काम-काज समाप्त करके राजलक्ष्मी भी थोड़ी देरके लिए हम लोगोंके कमरेमें आई।

वज्रानन्द बोले, " स्वागत है, बहिन। "

राजलक्ष्मीने उनकी ओर हँसते हुए देखकर कहा, " मैं समझती हूँ कि अब संन्यासीकी देव-सेवा आरम्भ हो गई है, इसीलिए न इतना आनन्द है!"

आनन्दने कहा, " तुमने झूठा नहीं कहा बहिन, संसारमें जितने आनन्द हैं उनमें भजनानन्द और भोजनानन्द ही श्रेष्ठ हैं, और, शास्त्रका कथन है कि, त्यागीके लिए तो दूसरा ही सर्वश्रेष्ठ है। "

राजलक्ष्मी बोली, " हाँ, तुम-जैसे संन्यासियोंके लिए! "

आनन्दने जवाब दिया, " यह भी झूठ नहीं है, बहिन। आप गृहिणी हैं, इसीलिए इसका मर्म नहीं ग्रहण कर सकीं। तभी तो हम त्यागियोंका दल इधर मौज कर रहा है और आप तीन दिनसे सिर्फ़ दूसरोंको खिलानेमें लगी हैं और खुद उपवास करके मर रही हैं। "

राजलक्ष्मी बोली, " मर कहाँ रही हूँ, भाई? दिनपर दिन तो देख रही हूँ, इस शरीरकी श्रीवृद्धि ही हो रही है। "

आनन्द बोले, " इसका कारण यही है कि वह होनेके लिए बाध्य है। उस बार भी आपको देख गया था, इस बार भी आकर देख रहा हूँ। आपकी ओर देखकर ऐसा नहीं मालूम होता कि कोई संसारकी चीज़ देख रहा हूँ, यह जैसे दुनियासे अलग और ही कुछ है। "

राजलक्ष्मीका मुँह लज्जासे लाल हो उठा।

मैंने उससे हँसकर कहा, "देखी तुमने अपने आनन्दकी युक्ति-प्रणाली? "

यह सुनकर आनन्द भी हँसकर बोला, " यह तो युक्ति नहीं,—स्तुति है। भैया, यह दृष्टि होती तो नौकरीकी दरख़ास्त देने बर्मा जाते? अच्छा बहिन, किस दुष्ट-बुद्धि देवताने भला इस अन्धे आदमीको तुम्हारे मत्थे मढ़ दिया था? उसे क्या और कोई काम नहीं था? "

राजलक्ष्मी हँस पड़ी। फिर अपने माथेपर हाथ ठोंककर बोली, " देवताका दोष नहीं है भाई, दोष इस ललाटका है। और इनको तो इनका बड़ा भारी दुश्मन भी दोष नहीं दे सकता। " यह कहकर उसने मुझे दिखाते हुए कहा,—

"पाठशालामें ये थे सबके सरदार। जितना पढ़ाते न थे उससे बहुत ज़्यादा मारते थे। उस समय पढ़ती तो थी सिर्फ 'बोधोदय'। पर, पुस्तकका बोध तो क्या होना था बोध हुआ और एक तरहका। बच्ची थी, फूल कहाँ पाती! जंगली करौंदोंकी माला गूँथकर इन्हें एक दिन वरमाला पहिना दी। सोचती हूँ उस समय अगर उन फलोंके साथ काँटे भी गूँथ देती!"

बोलते बोलते उसका कुपित कण्ठ-स्वर दबी हँसीकी आभासे सुन्दर हो उठा।

आनन्द बोला, "ओह!—कैसा भयानक गुस्सा है।"

राजलक्ष्मी बोली,—"गुस्सा नहीं तो क्या है? काँटे लाकर देनेवाला कोई और होता तो ज़रूर गूँथ देती। अब भी पाऊँ तो गूँथ दूँ।"

यह कहकर वह तेज़ीसे बाहर जा रही थी कि आनन्दने पुकारकर कहा, "भागती हो?"

"क्यों, क्या और कोई काम नहीं है? चायकी प्याली हाथमें लिये उन्हें कलह करनेका समय है, मुझे नहीं है।"

आनन्दने कहा, "बहिन, मैं तुम्हारा अनुगत हूँ। पर इस अभियोगमें शह देनेमें तो मुझे भी लज्जाका अनुभव होता है। ये मुँहसे एक भी बात निकालते, तो इन्हें इसमें घसीटनेकी चेष्टा भी की जाती; पर, एकदम गूँगे आदमीको कैसे फंदेमें डाला जाय? और डाला भी जाय तो धर्म कैसे सहन करेगा?"

राजलक्ष्मी बोली, "इसीकी तो मुझे सबसे बड़ी जलन है। अच्छा, अब जो धर्मको सहन हो वही करो। चाय बिल्कुल ठण्डी हो गई। मैं तब तक एक बार रसोई-घरका चक्कर लगा आऊँ।"

यह कहकर राजलक्ष्मी कमरेके बाहर हो गई।

वज्रानन्दने पूछा, "बर्मा जानेका विचार क्या अब भी है भाई साहब? लेकिन बहिन साथ हर्गिज़ नहीं जायँगी, यह मुझसे कह चुकी हैं।"

"यह मैं जानता हूँ।"

"तो फिर?"

"तब अकेले ही जाना होगा।"

वज्रानन्दने कहा, "देखिए, यह आपका अन्याय है। आप लोगोंको पैसा कमानेकी ज़रूरत तो है नहीं, फिर क्यों जायँगे दूसरेकी गुलामी करने?"

"कमसे कम उसका अभ्यास बनाये रखनेके लिए।"

"यह तो गुस्सेकी बात हुई भाई।"

"पर गुस्सेके सिवाय क्या मनुष्यके लिए और कोई कारण नहीं होता आनन्द?"

आनन्द बोला, "हो भी, तो वह दूसरेके लिए समझना कठिन है!"

इच्छा तो हुई कि कहूँ, 'यह कठिन काम दूसरे करें ही क्यों,' पर वाद-विवादसे चीज़ पीछे कड़वी हो जाती है, इस आशंकासे चुप हो गया।

इसी समय बाहरका काम निबटाकर राजलक्ष्मीने कमरेमें प्रवेश किया। इस बार वह खड़ी न रहकर भलमंसीके साथ आनन्दके पास स्थिरतापूर्वक बैठ गई। आनन्दने मुझे लक्ष्य करके कहा, "बहिन, इन्होंने कहा है कि कमसे कम गुलामीका अभ्यास बनाये रखनेके लिए इन्हें विदेश जाना चाहिए। मैंने कहा कि यदि यही चाहिए तो आइए मेरे काममें योग दीजिए। विदेश न जाकर देशकी गुलामीमें ही दोनों भाई ज़िन्दगी बिता दें।"

राजलक्ष्मी बोली, "लेकिन ये तो डाक्टरी नहीं जानते, आनन्द।"

आनन्द बोला, "क्या मैं सिर्फ डाक्टरी ही करता हूँ? स्कूल-पाठशालायें चलाता हूँ और उन लोगोंकी दुर्दशा आज कितनी ओरसे और कितनी अधिक हो रही है, इसे बराबर समझानेकी चेष्टा करता हूँ।"

"पर वे समझते हैं क्या?"

आनन्दने कहा, "आसानीसे नहीं समझते। किन्तु, मनुष्यकी शुभ इच्छा यदि हृदयसे सत्य होकर बाहर निकलती है, तो चेष्टा व्यर्थ नहीं जाती, बहिन।"

राजलक्ष्मीने मेरी ओर तिरछी नज़रसे देखकर धीरेसे सिर हिला दिया। मालूम होता है कि उसने विश्वास नहीं किया और वह मेरे लिए मन-ही-मन सशंक हो उठी। पीछे कहीं मैं भी सम्मति न दे बैठूँ, कहीं मैं भी—

आनन्दने पूछा, "सिर क्यों हिला दिया?"

राजलक्ष्मीने पहले कुछ हँसनेकी चेष्टा की, फिर स्निग्ध मधुर कण्ठसे कहा, "देशकी दुर्दशा कितनी बड़ी है, यह मैं भी जानती हूँ आनन्द। पर तुम्हारे अकेलेकी चेष्टासे क्या होगा भाई?" फिर मेरी ओर इशारा करके कहा, "और ये सहायता करने जायँगे? तब तो हो गया। फिर तो मेरी तरह तुम्हारे दिन भी इन्हींकी सेवामें कटेंगे, और कोई काम न करना होगा।"

यह कहकर वह हँस पड़ी।

उसको हँसते देख आनन्द भी हँसकर बोला, "तो इनको ले जानेकी ज़रूरत

नहीं है बहिन । ये चिरकाल तक तुम्हारी आँखोंके मणि होकर रहें । पर यह अकेले-दुकेलेकी बात नहीं है । अकेले मनुष्यकी भी आन्तरिक इच्छा-शक्ति इतनी बड़ी होती है कि उसका परिमाण नहीं होता—बिल्कुल वामनावतारके पाँवकी तरह । बाहरसे देखनेपर छोटा है, पर वही छोटा-सा पाँव जब फैलता है तब सारे संसारको ढँक देता है । "

मैंने देखा कि वामनावतारकी उपमासे राजलक्ष्मीका चित्त कोमल हो गया है; किन्तु जवाबमें उसने कुछ नहीं कहा ।

आनन्द कहने लगा, " शायद आपकी ही बात ठीक है, मैं विशेष कुछ नहीं कर सकता । लेकिन, एक काम करता हूँ । जहाँतक हो सकता है, दुखियोंके दुःखोंका अंश मैं बँटाता हूँ, बहिन । "

राजलक्ष्मी और भी आर्द्र होकर बोली, " यह मैं जानती हूँ आनन्द । यह तो मैंने उसी दिन समझ लिया था जिस दिन तुम्हें पहलेपहल देखा था । "

मालूम होता है कि आनन्दने इस बातपर ध्यान नहीं दिया, और वह अपनी ही बातके सिलसिलेमें कहने लगा, " आप लोगोंकी तरह मुझे भी किसी चीज़का अभाव नहीं था । बापका जो कुछ है, वह आनन्दसे जीवन बितानेके लिए ज़रूरतसे ज्यादा है । पर मेरा उससे कुछ सरोकार नहीं है । इस दुखी देशमें सुख-भोगकी लालसा भी यदि इस जीवनमें रोककर रख सकूँ तो मेरे लिए यही बहुत है । "

रतनने आकर बतलाया कि रसोइयेने भोजन तैयार कर लिया है ।

राजलक्ष्मीने उसे आसन तैयार करनेका आदेश देकर कहा, " आज तुम लोग भोजनसे ज़रा जल्दी ही निबट लो आनन्द, मैं बहुत थक गई हूँ । "

वह थक गई थी, इसमें सन्देह नहीं, लेकिन थकनेकी दुहाई देते उसे कभी नहीं देखा । हम दोनों चुपचाप उठ बैठे । आजका प्रभात हम लोगोंकी एक बड़ी भारी प्रसन्नतामेंसे होकर हँसी-दिल्लगीके साथ आरम्भ हुआ था और सन्ध्याकी मजलिस भी जमी थी हास-परिहाससे उज्ज्वल होकर, किन्तु, समाप्त हुई मानों निरानन्दके मलिन अवसादके साथ । जिस समय हम लोग भोजन करनेके लिए रसोई-घरकी ओर चले उस समय किसीके मुँहसे कोई बात नहीं निकली ।

दूसरे दिन सबेरे वज्रानन्दने प्रस्थानकी तैयारी कर दी । और कभी यदि किसीके कहीं जानेकी चर्चा उठती तो राजलक्ष्मी हमेशा आपत्ति किया करती ।

अच्छा दिन नहीं है, अच्छी घड़ी नहीं है आदि कारण बतलाकर, आज नहीं कल, कल नहीं परसों, करके बहुत बाधा डालती थी। लेकिन, आज उसने मुँहसे एक बात भी नहीं निकाली। विदा लेकर आनन्द जिस समय तैयार हुआ उस समय पास जाकर उससे मीठे स्वरसे पूछा, "आनन्द, अब क्या न आओगे भाई?"

मैं पास ही था, इसलिए, स्पष्ट देख सका, संन्यासीकी आँखोंकी दीप्ति अस्पष्ट-सी हो गई है, किन्तु, तत्काल ही आत्म-संवरण करके वह मुँहपर हँसी लाते हुए बोला, "आऊँगा क्यों नहीं बहिन, अगर जीवित रहा तो बीच-बीचमें उत्पात करनेके लिए हाजिर होता रहूँगा।"

"सचमुच?"

"ज़रूर।"

"लेकिन, हम लोग तो जल्द ही चले जायँगे। जहाँ हम रहेंगे वहाँ आओगे क्या?"

"हुक्म देनेपर आऊँगा क्यों नहीं?"

राजलक्ष्मीने कहा, "आना। अपना पता मुझे लिख दो, मैं तुम्हें चिट्ठी लिखूँगी।"

आनन्दने जेबसे काग़ज़-पेंसिल निकाल कर पता लिखा और उसके हाथमें दे दिया। संन्यासी होकर भी दोनों हाथ जोड़कर मस्तकसे लगाते हुए उसने हम दोनोंको नमस्कार किया और रतनने आकर उसकी पद-धूलि ग्रहण की। उसे आशीर्वाद दे वह धीरे धीरे मकानके बाहर हो गया।

१५

संन्यासी वज्रानन्द अपना ओषधियोंका बॉक्स और केन्वासका बेग लेकर जिस दिन बाहर गया उस दिनसे जैसे वह इस घरका आनन्द ही छान-बीनकर ले गया। यही नहीं, मुझे ऐसा लगा मानो वह उस शून्य स्थानको छिद्रहीन निरानन्दसे भर गया। घने सिवारसे भरे हुए जलाशयका जल, जो अपने अविश्रान्त चांचल्यके अभिघातोंसे निर्मल हो रहा था, मानो उसके अन्तर्धान होनेके साथ ही साथ लिपकर एकाकार होने लगा। तो भी, छ-सात दिन कट गये। राजलक्ष्मी प्रायः सारे दिन घरसे बाहर रहती है। कहाँ जाती है, क्या करती

है, नहीं जानता, उससे पूछता भी नहीं। शामको जब एक बार उससे भेंट होती है तो उस वक्त वह या तो अन्यमनस्क दिखाई देती है या गुमाश्ताजी साथ होते हैं और काम-काजकी बातें होती रहती हैं। अकेले घरमें उस ' आनन्द ' की बार बार याद आती जो मेरा कोई नहीं है। ख़याल आता, यदि वह अकस्मात् फिर आ जाय! तो सिर्फ़ मैं ही खुश होता यह बात नहीं है, बरामदेकी दूसरी ओर चिराग़की रोशनीमें बैठी हुई राजलक्ष्मी भी, जो न जाने क्या करनेकी चेष्टा कर रही है, मैं समझता हूँ, उतनी ही खुश होती। ऐसा ही लगने लगा। एक दिन जिनके उन्मुख युग्म-हृदय जिस बाहरका सब प्रकारका संस्रव परिहार करके एकान्त सम्मिलनकी आकांक्षासे व्याकुल रहते थे, आज टूटने-विच्छिन्न होनेके दिन उसी बाहरकी हमें कितनी बड़ी ज़रूरत है! ऐसा लगता है कि चाहे कोई भी हो यदि वह एक बार बीचमें आकर खड़ा हो जाय, तो मानों जान बच जाय।

इस तरह जब दिन कटना मुश्किल हो गया, तब रतन एकाएक आकर उपस्थित हो गया। वह अपनी हँसी दबानेमें असमर्थ था। राजलक्ष्मी घरपर थी नहीं, इसलिए उसे डरनेकी ज़रूरत नहीं थी, तो भी वह एक बार सावधानीसे चारों ओर नज़र दौड़ाकर आहिस्तेसे बोला, " मालूम होता है आपने सुना नहीं ? "

मैं बोला, " नहीं, क्या बात है ? "

रतन बोला, " दुर्गा माता कृपा करें कि माँकी यही बुद्धि अन्त तक बनी रहे। हम सब अब दो-चार दिनमें ही यहाँसे चल रहे हैं। "

" कहाँ चल रहे हैं ? "

रतनने एक बार और दरवाज़ेके बाहर देख लिया और कहा, " यह तो ठीक ठीक अब भी नहीं मालूम कर सका हूँ। या तो पटना या काशी और या,—लेकिन, इनके अतिरिक्त तो और कहीं माँका अपना मकान है नहीं! "

मैं चुप रहा। इतनी बड़ी बातपर भी मुझे चुप और उत्सुकतारहित देखकर उसे ऐसा मालूम हुआ कि मैं उसकी बातपर विश्वास नहीं कर रहा हूँ, इसीलिए, वह अपने दबे गलेकी सारी ताक़त लगाकर बोल उठा, " मैं सच कह रहा हूँ। हमारा चलना निश्चित है। आः, जान बचे तब तो, है न ठीक ?

मैंने कहा, " हाँ। "

रतन बहुत खुश होकर बोला, " दो-चार दिन और सबके साथ तकलीफ़ झेल लीजिए, बस। अधिकसे अधिक एक हफ्तेकी बात और है, इससे ज़्यादा

नहीं। माँ गंगामाटीकी सारी व्यवस्था कुशारी महाशयके साथ ठीक कर चुकी हैं। अब सामान बाँध-बूँधकर एक बार 'दुर्गा दुर्गा' कहकर चल देना ही बाकी रहा है। हम सब ठहरे शहरके निवासी, क्या यहाँ हमारा मन कभी लग सकता है?" यह कहकर वह प्रसन्नताके आवेगमें उत्तरकी प्रतीक्षा किये बिना ही बाहर चला गया।

रतनको कोई बात अज्ञात नहीं थी। उसकी समझमें मैं भी राजलक्ष्मीके अनुचरोंमेंसे एक था, इससे अधिक और कुछ नहीं। वह जानता था कि किसीके भी मतामतका कोई मूल्य नहीं है, सबकी पसन्द और नापसन्द मालकिनकी इच्छा और अभिरुचिपर ही निर्भर है।

जो आभास रतन दे गया उसका मर्म वह खुद नहीं समझता था, लेकिन, उसके वाक्यका वह गूढ़ अर्थ, देखते ही देखते, मेरे चित्तपटमें चारों ओरसे परिस्फुट हो उठा। राजलक्ष्मीकी शक्तिकी सीमा नहीं है, उस विपुल शक्तिको लगाकर वह संसारमें जैसे अपने आपको लेकर ही खेल खेल रही है। एक दिन इस खेलमें मेरी ज़रूरत हुई थी, उसकी उस एकाग्र-वासनाके प्रचण्ड आकर्षणको रोकनेकी क्षमता मुझमें नहीं थी। मैं झुककर आया था, मुझे वह बड़ा बनाकर नहीं लाई थी। सोचता था, मेरे लिए उसने अनेक स्वार्थ-त्याग किये हैं; पर, आज दिखाई पड़ा कि ठीक यही बात नहीं है। राजलक्ष्मीके स्वार्थका केन्द्र इतने समय तक देखा नहीं था, इसीलिए ऐसा सोचता आया हूँ। धन, अर्थ, ऐश्वर्य,—बहुत कुछ उसने छोड़ा है, लेकिन क्या मेरे ही लिए? इन सबने कूड़ेके ढेरकी तरह क्या उसके निजी प्रयोजनका ही रास्ता नहीं रोका है? राजलक्ष्मीके निकट मेरे और मुझे प्राप्त करनेके बीच कितना प्रभेद है यह सत्य मुझपर आज प्रकट हुआ। आज उसका चित्त इस लोकके सब-कुछ पाये हुएको तुच्छ करके अग्रसर होनेको तैयार हुआ है। उसके उस पथके बीच खड़े होनेके लिए मुझे स्थान नहीं है। इसलिए, अन्यान्य कूड़े-कचरेकी तरह अब मुझे भी रास्तेके एक तरफ़ अनादरसे पड़ा रहना पड़ेगा, चाहे वह कितना ही दुख दे। पर अस्वीकार करनेके लिए मार्ग नहीं है। अस्वीकार किया भी नहीं कभी।

दूसरे दिन सवेरे ही जान पाया कि चालाक रतनने जो तथ्य संग्रह किया था वह ग़लत नहीं है। गंगामाटीसम्बन्धी सारी व्यवस्था स्थिर हो गई है। राजलक्ष्मीके ही मुँहसे मुझे इस बातका पता लगा। प्रातःकाल नियमित पूजा-पाठ

करके वह और दिनोंकी तरह बाहर नहीं गई। धीरे धीरे आकर मेरे पास बैठ गई और बोली, "परसों इसी वक्त अगर खा-पीकर हम सब यहाँसे निकल सकें तो साँईथियामें पच्छिमकी गाड़ी आसानीसे मिल सकती है, न?"

मैं बोला, "मिल सकती है।"

राजलक्ष्मीने कहा, "यहाँका सब बन्दोबस्त मैं एक तरहसे पूरा कर चुकी हूँ। कुशारी महाशय जिस तरह देख-रेख रखते थे, उसी तरह रक्खेंगे।"

मैंने कहा, "अच्छा ही हुआ।"

राजलक्ष्मी कुछ देर चुप रही। मालूम होता था कि प्रश्नको ठीक तौरसे आरंभ नहीं कर सकती थी इसीलिए। अन्तमें बोली, "बंकूको चिट्ठी लिख दी है कि वह एक गाड़ी रिज़र्व करके स्टेशनपर हाज़िर रहेगा। लेकिन रहे तब तो।"

मैंने कहा, "ज़रूर रहेगा। वह तुम्हारा हुक्म नहीं टालेगा।"

राजलक्ष्मी बोली, "नहीं; जहाँतक हो सकेगा टालेगा नहीं, तो भी,—अच्छा, तुम क्या हमारे साथ नहीं चल सकोगे?"

कहाँ जाना होगा, यह प्रश्न नहीं कर सका। सिर्फ इतना ही मुँहसे निकला, "अगर मेरे चलनेकी ज़रूरत समझो तो चल सकता हूँ।"

इसके प्रत्युत्तरमें राजलक्ष्मी कुछ न बोल सकी। कुछ देर चुप रहनेके बाद सहसा घबराकर बोल उठी, "अरे, तुम्हारे लिए चाय तो अब तक लाया ही नहीं।"

मैं बोला, "मालूम होता है वह काममें व्यस्त है।"

वास्तवमें चाय लानेका समय काफ़ी गुज़र चुका था। और दिन होता तो वह नौकरोंका ऐसा अपराध कभी क्षमा न कर सकती, बक-झककर तूफान-बर्पा कर देती, लेकिन, उस समय जैसे वह एक प्रकारकी लज्जासे मर गई और एक भी बात न कहकर तेज़ीसे कमरेसे बाहर हो गई।

निश्चित दिनको प्रस्थानके पहले समस्त प्रजाजन आये और घेरकर खड़े हो गये। डोमकी लड़की मालतीको फिर एक बार देखनेकी इच्छा थी; लेकिन, उसने इस गाँवको छोड़कर किसी और ही गाँवमें अपनी गृहस्थी जमा ली थी, इसलिए नहीं देख सका। पता लगा कि उस जगह वह अपने पतिके साथ सुखी है। दोनों कुशारी-बन्धु अपने परिवारसहित रात रहते ही आ गये। जुलाहेका सम्पत्ति-सम्बन्धी झगड़ेका निबटारा हो जानेसे वे फिर एक हो गये हैं। राजलक्ष्मीने

कैसे यह सब किया इसे विस्तारपूर्वक जाननेका कुतूहल भी नहीं था, और न जाना ही। उनके मुँहकी ओर देखकर केवल इतना ही जान सका कि झगड़ेका अन्त हो गया है और पूर्वसंचित अनबनकी ग्लानि अब किसी भी पक्षके मनमें मौजूद नहीं है।

सुनन्दा आई और उसने अपने बच्चेको लेकर मुझे प्रणाम किया, कहा, "हम सबको आप जल्दी न भूल जायँगे, यह मैं जानती हूँ। इसके लिए तो प्रार्थना करना व्यर्थ है।"

मैंने हँसकर कहा, "तो मुझसे और किस बातके लिए प्रार्थना करोगी बहिन?"

"मेरे बच्चेको आप आशीर्वाद दें।"

मैं बोला, "यही तो व्यर्थ प्रार्थना है, सुनन्दा। तुम-जैसी माँके बच्चेको क्या आशीर्वाद दिया जाय, यह तो मैं भी नहीं जानता, बहिन।"

राजलक्ष्मी किसी कामसे पासहीसे जा रही थी। यह बात ज्यों ही उसके कानों पड़ी, वह कमरेके अन्दर आ खड़ी हुई और सुनन्दाकी ओरसे बोली, "इस बच्चेको यह आशीर्वाद दे चलो कि यह बड़ा होकर तुम्हारे ही जैसा मन पाये।"

मैंने हँसकर कहा, "बड़ा अच्छा आशीर्वाद है! शायद तुम्हारे बच्चेसे लक्ष्मी मज़ाक़ करना चाहती है, सुनन्दा।"

बात समाप्त होनेके पहले ही राजलक्ष्मी बोल उठी, "मज़ाक़ करना चाहूँगी अपने ही बच्चेके साथ, और वह भी चलनेके समय?"

यह कहकर वह क्षण-भर स्तब्ध रहकर बोली, "मैं भी इसकी माँके समान हूँ। मैं भी भगवानसे प्रार्थना करती हूँ कि वे इसे यही वर दें। इससे बड़ा तो मैं कोई और वर जानती नहीं।"

सहसा मैंने देखा उसकी दोनों आँखोंमें आँसू भर आये हैं। और कुछ भी न कहकर वह कमरेसे बाहर चली गई।

इसके बाद सबसे मिलकर, आँखोंमें आँसू भरे हुए, गंगामाटीसे विदा ली। यहाँ तक कि रतन भी फिर-फिरकर आँखें पोंछने लगा। जो यहाँ रहनेवाले थे उन्होंने हम सबसे फिर आनेके लिए अत्यधिक अनुरोध किया और सबने उन्हें फिर आनेका वचन भी दिया, केवल मैं ही न दे सका। मैंने ही निश्चित रूपसे समझा था कि इस जीवनमें अब मेरा यहाँ लौटना सम्भव नहीं है। इसीलिए,

जाते समय इस छोटे-से गाँवको बार-बार फिर-फिरकर देखते समय मनमें केवल यही विचार उत्पन्न होने लगा कि अपरिमेय माधुर्य और वेदनासे परिपूर्ण एक वियोगान्त नाटककी जवनिका अभी ही गिरी है; नाटयशालाके दीप-बुझ गये हैं और अब मनुष्योंसे परिपूर्ण संसारकी सहस्र-विध भीड़मेंसे मुझे रास्तेपर बाहर निकलना पड़ेगा। किन्तु, जिस मनको जनताके बीच बड़ी होशियारीसे क़दम रखनेकी जरूरत है, मेरा वही मन जैसे नशेकी खुमारीसे एकदम आच्छन्न हो रहा।

शामके बाद हम सब साईंथिया आ पहुँचे। राजलक्ष्मीके किसी भी आदेश और उपदेशकी बंकूने अवहेला नहीं की। सब इन्तज़ाम करके वह स्टेशनके प्लेटफ़ार्मपर खुद उपस्थित था। यथासमय गाड़ी आई और वह सरो-सामान लादकर, रतनको नौकरोंके डिब्बेमें चढ़ा, विमाताको लेकर गाड़ीमें बैठ गया। लेकिन, उसने मेरे साथ कोई घनिष्ठता दिखानेकी चेष्टा नहीं की, क्योंकि, अब उसका मूल्य बढ़ गया है; घर-बार रुपये पैसे लेकर अब संसारमें वह विशेष आदमियोंमें गिना जाने लगा है। बंकू विचक्षण व्यक्ति है। सभी अवस्थाओंको मानकर चलना जानता है। यह विद्या जिसे आती है, संसारमें उसे दुःख-भोग नहीं करना पड़ता।

गाड़ी छूटनेमें अब भी पाँच मिनटकी देरी है; लेकिन, मेरी कलकत्ते जानेवाली गाड़ी तो आयेगी प्रायः रातके पिछले पहर। एक ओर स्थिर होकर खड़ा था। राजलक्ष्मीने गाड़ीकी खिड़कीसे मुँह निकालकर हाथके इशारेसे मुझे बुलाया। पास पहुँचते ही कहा, "जरा अन्दर आओ।" अन्दर जानेपर उसने हाथ पकड़कर मुझे पास बिठा लिया और कहा, "तुम क्या बहुत जल्दी ही बर्मा चले जाओगे? जानेके पहले क्या एक बार और नहीं मिल सकोगे?"

मैं बोला, "अगर ज़रूरत हो तो मिल सकता हूँ।"

राजलक्ष्मी धीरेसे बोली, "संसार जिसे ज़रूरत कहता है वह नहीं। केवल एक बार और देखना चाहती हूँ। आओगे?"

"आऊँगा।"

"कलकत्ते पहुँचकर चिट्ठी भेजोगे?"

"भेजूँगा।"

बाहर गाड़ी छूटनेका अन्तिम घण्टा बज उठा और गार्डने अपनी हरी रोशनी बार बार हिलाकर गाड़ी छोड़नेका संकेत किया। राजलक्ष्मीने झुककर

मेरे पाँवोंकी धूल ली और मेरा हाथ छोड़ दिया। मैंने ज्यों ही नीचे उतरकर गाड़ीका दरवाज़ा बन्द किया, गाड़ी रवाना हो गई। रात अँधेरी थी, अच्छी तरह कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता था, सिर्फ प्लेटफ़ार्मके मिट्टीके तेलके लैम्पोंने धीरे धीरे सरकती हुई गाड़ीकी उस खुली खिड़कीकी एक अस्पष्ट नारी-मूर्तिपर कुछ रोशनी डाली।

❧ ❧ ❧ ❧

कलकत्ता आकर मैंने चिट्ठी भेजी और उसका जवाब भी पाया। यहाँ कोई अधिक काम तो था नहीं, जो कुछ था वह पन्द्रह दिनमें समाप्त हो गया। अब विदेश जानेका आयोजन करना होगा। लेकिन, उसके पहले वादेके अनुसार एक बार फिर राजलक्ष्मीसे मिल आना होगा। दो सप्ताह और भी यों ही बीत गये। मनमें एक आशंका थी कि न जाने उसका क्या मतलब हो, शायद आसानीसे छोड़ना नहीं चाहे, या इतनी दूर जानेके विरुद्ध तरह तरहके उज्र और आपत्तियाँ खड़ी करके ज़िद करे,—कुछ भी असम्भव नहीं है। इस समय वह काशीमें है। उसके रहनेका पता भी जानता हूँ, इधर उसके दो-तीन पत्र भी आ चुके हैं, और यह भी विशेष रूपसे लक्ष्य कर चुका हूँ कि मेरे वादेको याद दिलानेके सम्बन्धमें कहीं भी उसने इशारा करनेका प्रयत्न नहीं किया है। न करनेकी तो बात ही है! मन ही मन कहा, अपनेको इतना छोटा बनाकर मैं भी शायद मुँह खोलकर यह नहीं लिख सकता कि तुम आकर एक बार मुझसे मिल जाओ। देखते देखते अकस्मात् मैं जैसे अधीर हो उठा। और इस जीवनके साथ वह इतनी जकड़ी हुई है, यह बात इतने दिन कैसे भूला हुआ था, यह सोचकर अवाक् हो गया। घड़ी निकालकर देखी, अब भी समय है, गाड़ी पकड़ी जा सकती है। सब समान डेरेपर पड़ा रहा और मैं बाहर निकल पड़ा।

इधर उधर फैली हुई चीज़ोंको देखकर मनमें आया, रहें ये सब पड़ी हुई। मेरी ज़रूरतोंको जो मुझसे भी अधिक अच्छी तरह जानती है, उसीके उद्देश्यसे,—उसीसे मिलनेके लिए, जब यात्रा करना है, तब यह ज़रूरतोंका बोझा नहीं ढोऊँगा। रातको गाड़ीमें किसी तरह नींद नहीं आई, अलस-तन्द्राके झोंकोंसे मुँदी हुई दोनों आँखोंकी पलकोंपर कितने विचार और कितनी कल्पनाएँ खेलती हुई घूमने लगीं उनका आदि-अन्त नहीं। शायद, अधिकांश ही

विशृंखल-सी थीं, परन्तु, सभी जैसे मधुसे भरी हुई। धीरे धीरे सुबह हुई, दिन चढ़ने लगा, लोगोंके चढ़ने-उतरने, बोलने-पुकारने और दौड़-धूप करनेकी हद नहीं रही, तेज़ धूपके कारण चारों ओर कहीं भी कुहरेका चिह्न नहीं रहा, पर, मेरी आँखें बिलकुल वाष्पाच्छन्न हो रहीं।

रास्तेमें गाड़ी लेट हो जानेके कारण राजलक्ष्मीके काशीके मकानपर जब मैं पहुँचा तो बहुत देरी हो गई थी। बैठकके सामने एक बूढ़ेसे ब्राह्मण हुक्का पी रहे थे। उन्होंने मुँह उठाकर पूछा, "क्या चाहते हैं?"

यह सहसा नहीं बतला सका कि क्या चाहता हूँ। उन्होंने फिर पूछा, "किसे खोज रहे हैं?"

किसे खोज रहा हूँ, सहसा यह बतलाना भी कठिन हो गया। ज़रा रुककर बोला "रतन है क्या?"

"नहीं, वह बाज़ार गया है।"

ब्राह्मण सज्जन व्यक्ति थे। मेरे धूलि-भरे मलिन मुखकी ओर देखकर शायद उन्होंने अनुमान कर किया कि मैं दूरसे आ रहा हूँ इसलिए दयापूर्ण स्वरमें बोले,— "आप बैठिए, वह जल्द आयेगा। आपको क्या सिर्फ उसीकी ज़रूरत है?"

पास ही एक चौकीपर बैठ गया। उनके प्रश्नका ठीक उत्तर न देकर पूछ बैठा "यहाँ बंकू बाबू हैं?"

"हैं क्यों नहीं।"

यह कहकर उन्होंने एक नये नौकरको कहा कि बंकू बाबूको बुला दे।

बंकूने आकर देखा तो पहले वह बहुत विस्मित हुआ। बादमें मुझे अपनी बैठकमें ले जाकर और बिठाकर बोला, "हम लोग तो समझते थे कि आप बर्मा चले गये।"

इस 'हम लोग'का क्या मतलब है, यह मैं पूछ नहीं सका। बंकूने कहा,— "आपका सामान अभी गाड़ीपर ही है क्या?"

"नहीं, मैं साथमें कोई सामान नहीं लाया।"

"नहीं लाये? तो क्या रातकी ही गाड़ीसे लौट जाना है?"

मैंने कहा, "सम्भव हुआ तो ऐसा ही विचार करके आया हूँ।"

बंकू बोला, "तब इतने थोड़े वक्तके लिए सामानकी क्या ज़रूरत?"

नौकर आकर धोती, गमछा और हाथ-मुँह धोनेको पानी आदि ज़रूरी चीज़ें दे गया; पर, और कोई मेरे पास नहीं आया।

भोजनके लिए बुलाहट हुई, जाकर देखा, चौकेमें मेरे और बंकूके बैठनेकी जगह पास पास ही की गई है। दक्षिणका दरवाज़ा ठेलकर राजलक्ष्मीने अन्दर प्रवेश करके मुझे प्रणाम किया। शुरूमें तो शायद उसे पहिचान ही न सका। जब पहिचाना तो आँखोंके सामने मानों अन्धकार छा गया। यहाँ कौन है और कौन नहीं, नहीं सूझ पड़ा। दूसरे ही क्षण खयाल आया कि मैं अपनी मर्यादा बनाये रखकर, कुछ ऐसा न करके जिसमें कि हँसी हो, इस घरसे फिर सहज ही भले मानसकी तरह किस तरह बाहर हो सकूँगा।

राजलक्ष्मीने पूछा, "गाड़ीमें कुछ तकलीफ़ तो नहीं हुई ?"

इसके सिवा वह और क्या कह सकती थी! मैं धीरे-से आसनपर बैठकर कुछ क्षण स्तब्ध रहा, शायद एक घड़ीसे अधिक नहीं और फिर मुँह उठाकर बोला, "नहीं, तकलीफ़ नहीं हुई।"

इस बार उसके मुँहकी ओर अच्छी तरह देखा तो मालूम हुआ कि उसने न केवल सारे आभूषण ही उतार कर शरीरपर एक सादी किनारीकी धोती धारण कर रक्खी है, बल्कि, उसकी पीठपर लटकनेवाली मेघवत् सुदीर्घ केशराशि भी गायब है। माथेके ऊपर, ललाटके नीचे तक, आँचल खिचा हुआ है, तो भी उसमेंसे कटे बालोंकी दो-चार लटें गलेके दोनों ओर निकलकर बिखर गई हैं। उपवास और कठोर आत्म-निग्रहकी एक ऐसी रूखी दुर्बलता चेहरेसे टपक रही है कि अकस्मात् जान पड़ा इस एक ही महीनेमें वह उम्रमें भी मानों मुझसे दस साल आगे बढ़ गई है।

भातके ग्रास मेरे गलेमें पत्थरकी तरह अटकते थे, तो भी, ज़बर्दस्ती निगलने लगा। बार बार यही खयाल करने लगा कि इस नारीके जीवनसे हमेशाके लिए पुँछकर विलुप्त हो जाऊँ और आज, सिर्फ़ एक दिनके लिए भी, यह मेरे कम खानेकी आलोचना करनेका अवसर न पावे।

भोजन समाप्त होनेके बाद राजलक्ष्मीने कहा, "बंकू कहता था कि तुम आज रातकी ही गाड़ीसे वापस चले जाना चाहते हो ?"

मैंने कहा, "हाँ।"

"ऐसा भी कहीं होता है! लेकिन, तुम्हारा जहाज़ तो उस रविवारको छूटेगा।"

इस व्यक्त और अव्यक्त उच्छ्वाससे विस्मित होकर उसके मुँहकी ओर देखते ही वह हठात् जैसे लज्जासे मर गई और दूसरे ही क्षण अपनेको सँभालकर धीरेसे बोली, " उसमें तो अब भी तीन दिनकी देरी है ! "

मैंने कहा, " हाँ, पर और भी तो काम हैं । "

राजलक्ष्मी फिर कुछ कहना चाहती थी; पर चुप रही । शायद मेरी थकावट, और अस्वस्थ होनेकी सम्भावनाके ख़यालसे उस बातको मुँहपर न ला सकी । कुछ देर और चुप रहकर बोली, " मेरे गुरुदेव आये हैं । "

समझ गया कि बाहर जिस व्यक्तिसे पहले पहल मुलाक़ात हुई थी वही गुरुदेव हैं । उन्हींको दिखानेके लिए ही वह एक बार मुझे इस काशीमें खींच लाई थी । शामको उनके साथ बातचीत हुई । मेरी गाड़ी रातको बारह बजेके बाद छूटेगी । अब भी बहुत समय है । आदमी सचमुच अच्छे हैं । स्वधर्ममें अविचल निष्ठा है और उदारताका भी अभाव नहीं है । हमारी सभी बातें जानते हैं, क्योंकि, अपने गुरुसे राजलक्ष्मीने कोई भी बात छिपाई नहीं है । उन्होंने बहुत-सी बातें कहीं । कहानीके बहाने उपदेश भी कम नहीं दिये; पर वे न उग्र थे और न चोट करनेवाले । सब बातें याद नहीं हैं, शायद मन लगाकर सुनी भी नहीं थीं; तो भी, इतना याद है कि कभी न कभी राजलक्ष्मीका इस रूपमें परिवर्तन होगा, यह वे जानते थे । दीक्षाके सम्बन्धमें भी वे प्रचलित रीति नहीं मानते हैं । उनका विश्वास है कि जिसका पाँव फिसला है, सद्गुरुकी, औरोंकी अपेक्षा, उसीको अधिक आवश्यकता है ।

इसके विरुद्ध और कहता ही क्या ? उन्होंने फिर एक बार अपनी शिष्याकी भक्ति, निष्ठा और धर्म-भीरुताकी भूरि भूरि प्रशंसा करके कहा, " ऐसी स्त्री दूसरी नहीं देखी । "

बात वास्तवमें सच थी, पर, मैं इसे खुद भी उनके कहनेकी अपेक्षा कम नहीं जानता था । किन्तु, चुप हो रहा ।

समय होने लगा, घोड़ा-गाड़ी दरवाजेके सामने आकर खड़ी हो गई । गुरुदेवसे बिदा लेकर मैं गाड़ीपर जा बैठा । राजलक्ष्मीने सड़कपर आकर और गाड़ीके अन्दर हाथ बढ़ाकर बार बार मेरे पावोंकी धूलि अपने माथेपर लगाई, पर मुँहसे कुछ भी न कहा । शायद उसमें यह शक्ति ही नहीं थी । अच्छा ही

हुआ जो अँधेरेमें वह मेरा मुँह नहीं देख सकी। मैं भी स्तब्ध हो रहा, क्या कहूँ, नहीं खोज सका। अन्तिम बिदा निःशब्द ही पूरी हुई। गाड़ी चल पड़ी। मेरी दोनों आँखोंसे आँसू गिरने लगे। मैंने अपने सर्वान्तःकरणसे कहा, 'तुम सुखी होओ, शान्त होओ, तुम्हारा लक्ष्य ध्रुव हो, तुम्हारी ईर्षा न करूँगा; लेकिन, जिस अभागेने सब-कुछ त्यागकर एक साथ एक दिन अपनी नौका छोड़ दी थी, इस जीवनमें उसे अब किनारा नहीं मिलेगा।'

गाड़ी गड़गड़ाती हुई रवाना हो गई। उस दिनकी बिदाके समय जो सब बातें मनमें आई थीं, वही फिर जाग उठीं। मनमें आया कि यह जो एक जीवन-नाटकका अत्यन्त स्थूल और साधु उपसंहार हुआ है इसकी ख्यातिका अन्त नहीं है। इतिहासमें लिखनेपर इसकी अम्लान दीप्ति कभी धूमिल नहीं होगी। श्रद्धा और विस्मयके साथ मस्तक झुकानेवाले पाठकोंका भी किसी दिन संसारमें अभाव न होगा,—लेकिन, मेरी आत्म-कहानी किसीको भी सुनानेकी नहीं है। मैं चला अन्यत्र। मेरे ही समान जो पाप-पंकमें डूबी है, जिसे अच्छे होनेका कोई मार्ग नहीं रहा है, उसी अभयाके आश्रयमें। मन-ही-मन राजलक्ष्मीको लक्ष्य करके बोला, 'तुम्हारा पुण्य-जीवन उन्नतसे भी उन्नततर हो, धर्मकी महिमा तुम्हारेद्वारा उज्ज्वलसे उज्ज्वलतर हो, मैं अब क्षोभ नहीं करूँगा।' अभयाकी चिट्ठी मिली है। स्नेह, प्रेम और करुणासे अटल अभयाने, बहिनसे भी अधिक स्नेहमयी विद्रोहिणी अभयाने, मुझे सादर आमंत्रित किया है। आनेके समय छोटेसे दरवाज़ेपर उसके जो सजल नेत्र दिखे थे, वे याद आ गये और याद आ गया उसका समस्त अतीत और वर्तमान इतिहास। चित्तकी शुद्धता, बुद्धिकी निर्भरता और आत्माकी स्वाधीनतासे वह जैसे मेरे सारे दुःखोंको एक क्षणमें ढँककर उद्भासित हो उठी।

सहसा गाड़ीके रुकनेपर चकित होकर देखा तो स्टेशन आ गया है। उतरकर खड़े होते ही एक और व्यक्ति कोच-बाक्ससे शीघ्रतापूर्वक उतरा और उसने मेरे पैरोंपर पड़कर प्रणाम किया।

"कौन है रे रतन?"

"बाबू, विदेशमें चाकरकी ज़रूरत हो तो मुझे ख़बर दीजिएगा। जब तक जीवित रहूँगा आपकी सेवामें त्रुटि न होगी।"

गाड़ीकी बत्तीकी रोशनी उसके मुँहपर पड़ रही थी। मैं विस्मित होकर बोला, "तू रोता क्यों है ?"

रतनने जवाब नहीं दिया, हाथसे आँखें पोंछकर पाँवके पास फिर झुककर प्रणाम किया और वह जल्दीसे अन्धकारमें अदृश्य हो गया।

आश्चर्य, यह वही रतन है !*

समाप्त

* पृष्ठ १४५ से आगेका अनुवाद ठाकुर श्रीराजबहादुरसिंहजीका किया हुआ है।